



## मुखपृष्ठ चित्र परिचय

इस ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर जैनविद्या संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग में उपलब्ध पुष्पदन्त की रचनाओं की दो पाण्डुलिपियों की अन्त्य प्रशस्तियों के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं जिनका भाव निम्न प्रकार है —

1. ऊपर — महापुराण । इस प्रति में  $32 \times 10\frac{1}{2}$  सेमी. के आकार के 398 पत्र हैं ।

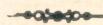
**प्रशस्ति का भाव** — यह प्रति संवत् 1391 विक्रमी की ज्येष्ठ कृष्णा नवमी गुरुवार को योगिनीपुर (दिल्ली) में सुल्तान महम्मदशाह के राज्यकाल में अग्रोतक (अग्रवाल) रूपी आकाश में चन्द्रमा के समान स्व० महिपाल एवं उसके परिवारवालों ने ज्ञानावरण-कर्मक्षयार्थ तथा भव्यजनों के पढ़ने के लिए लिखवाई थी तथा गौडान्वयी कायस्थ पंडित गंधर्व के पुत्र चाहड़-राजदेव ने इसकी प्रतिलिपि की थी ।

संवत् 1460 की वैशाख शुक्ला तेरस को खण्डिल्ल (खण्डेलवाल) वंश के गरुपति के पुत्र खेमल ने भ० पद्मनंददेव के आदेश से गुणकीर्ति को प्रदान की ।

2. नीचे — महापुराण । इसमें  $29\frac{1}{2} \times 12\frac{1}{2}$  सेमी. के आकार के कुल 257 पत्र थे । प्रति सचित्र थी । इनमें से पत्र संख्या 14, 15, 56, 94, 96, 97, 104, 145, 168, 183, 201 एवं 255 नहीं हैं जिन पर चित्र थे ।

**प्रशस्ति का भाव** — यह प्रति वि० सं० 1461 के भाद्रपद कृ० नवमी बुधवार को योगिनीपुर में श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ मूलसंघ के भ० श्री रत्नकीर्तिदेव के पट्टधर रायराजगुरु मण्डलाचार्य वादीन्द्र त्रैविद्य परमपूजार्चनीय भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव के पट्टधर अभयकीर्तिदेव आर्थिका क्षेमसिरि की आर्थिका अध्यात्मशास्त्र-रसिरसिका भेदाभेदरत्नत्रयआराधक चारित्रपात्री भव्यजनप्रबोधक दीनदुष्टसंतापनिवर्तक चतुरासीजीवदयापर आत्मरहस्यपरिपूर्ण अर्जिका धर्मसिरि नैगावे स्थानात् सहिलवालान्वये परमश्राविक एकादशप्रतिमाधारक सा० वीधू तस्य भार्या प्रियंवद गल्हो के पुत्र देवगुरुभक्त अनेक गुण संपूर्ण जीवदयातत्पर कुलमण्डलोपकारक धर्मकार्यविषयतत्पर सा० जोल्हा के सहोदर सा० सूडा, मोल्हा, धिरदेव । सा० जोल्हा की भार्या हरो के प्रथम पुत्र जिनपूजा-पुरन्दर सा० सतन.....।

प्रशस्ति अपूर्ण है ।



# जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक  
शोध-पत्रिका  
अप्रैल, 1985

सम्पादक मण्डल  
श्री मोहनलाल काला  
डॉ० राजमल कासलीवाल  
श्री ज्ञानचन्द्र सिन्धुका  
श्री विजयचन्द्र जैन  
श्री फूलचन्द्र जैन  
श्री कपूरचन्द्र पाटनी  
डॉ० कमलचन्द्र सोगाणी  
डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी  
प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन

प्रधान सम्पादक  
प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन  
सहायक सम्पादक  
श्री भंवरलाल पोल्याका  
सुश्री प्रीति जैन  
प्रबन्ध सम्पादक  
श्री कपूरचन्द्र पाटनी  
मन्त्री  
दि० जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी  
श्रीमहावीरजी

प्रकाशक

दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

मुद्रक :  
जयपुर प्रिण्टर्स  
जयपुर 302001

वार्षिक मूल्य -  
देश में : तीस रुपये मात्र  
विदेशों में : पन्द्रह डालर

## महावीर पुरस्कार 1983

यह पुरस्कार जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० पद्मलाल जैन साहित्याचार्य, सागर को उनकी कृति 'सम्यक्त्व चिन्तामणि' पर दिया गया है। यह पुस्तक वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी द्वारा सन् 1983 में प्रकाशित की गयी है।

## महावीर पुरस्कार 1984

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान (Institute of Jainology) का सन् 1984 का रुपये 5,000/- का "महावीर पुरस्कार"।

1982 से 1984 के मध्य प्रकाशित/अप्रकाशित हिन्दी, संस्कृत, अपभ्रंश अथवा अंग्रेजी में लिखित जैन साहित्य से सम्बन्धित किसी भी विषय की कोई भी रचना, चाहे वह पुस्तक हो या स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 31 मई, 1985 तक आमंत्रित है।

नियमावली तथा आवेदन-पत्र आदि प्राप्त करने के लिए 2/- रुपये का पोस्टल आर्डर निम्न पते पर आना चाहिये।

डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी

संयोजक

जैनविद्या संस्थान समिति

जवाहरलाल नेहरू मार्ग

एसबी 10, बापूनगर, जयपुर-302 004

## विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
	प्रास्ताविक		
	प्रकाशकीय		
	आरम्भिक		
1.	महाकवि पुष्पदन्त व्यक्तित्व और कर्तृत्व	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'	9
2.	चन्द्रप्रभ स्तुति	महाकवि पुष्पदन्त	16
3.	अपभ्रंश के संवेदनशील महाकवि पुष्पदन्त	डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	17
4.	महाकवि पुष्पदन्त और उन्नका काव्य	डॉ. योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अक्षय'	25
5.	पुष्पदन्त की भाषा	डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया	33
6.	महापुराण की काव्यभाषा	डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव	43
7.	शब्द प्रणाम	पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल	50
8.	महापुराण के रामायण खण्ड की बिम्ब-योजना	डॉ. छोटेलाल शर्मा	51
9.	लोभी जीव	महाकवि पुष्पदन्त	64
10.	महाकवि पुष्पदन्त द्वारा रचित महापुराण की बिम्ब-योजना	डॉ. गदाधरसिंह	65
11.	पुष्पदन्त और सूरदास (वात्सल्य)	डॉ. प्रेमसागर जैन	73
12.	जैन रामकथाओं के परिप्रेक्ष्य में पुष्पदन्त की रामकथा	सुश्री प्रीति जैन	79

13. जीवन की क्षणभंगुरता	महाकवि पुष्पदन्त	90
14. महाकवि पुष्पदन्त का दार्शनिक ऊहापोह	डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर'	91
15. महाकवि पुष्पदन्त के आदिपुराण की एक सचित्र पाण्डुलिपि	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	97
16. महाकवि पुष्पदन्त की रचनाओं की राजस्थान में लोकप्रियता	पं. अनूपचन्द 'न्यायतीर्थ'	101
17. आरांदा	श्री महानंदिवेव अनु. - डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	107
18. जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी		129
19. स्वयंभू विशेषांक : विद्वानों की दृष्टि में		135
20. साहित्य-समीक्षा		141
21. इस अंक के सहयोगी रचनाकार		143



## प्रास्ताविक

अपभ्रंश भाषा के संदर्भ में महाकवि पुष्पदंत (10वीं शती ई.) का स्थान भी महाकवि स्वयंभू के समान ही प्रमुख है। इन्होंने महापुराण, णायकुमारचरिउ एवं जसहरचरिउ की रचना कर अपभ्रंश भाषा के इतिहास में अपना अमर स्थान बनाया है। विख्यात विद्वान् राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'हिन्दी काव्यधारा' नामक अपभ्रंश काव्यों के संकलन में भी महाकवि स्वयंभू के पश्चात् दूसरा स्थान महाकवि पुष्पदंत को ही प्रदान किया गया है। अपभ्रंश भाषा के अन्य इतिहासकार विद्वान् भी उनके इस विचार से सहमत हैं।

उद्योतनसूरि (8वीं श.) का कथन है कि अपभ्रंश का प्रभाव बरसाती पहाड़ी नदियों की भाँति बेरोकटोक होता है और प्रणयकुपिता नायिका की भाँति यह मनुष्यों के मन को शीघ्र ही वश में कर लेता है। उद्योतनसूरि का यह कथन पुष्पदंत की रचनाओं पर पूर्णरूप से घटित होता है।

अपभ्रंश में मानव-जीवन से संबंधित कई विषयों पर लिखा गया है। स्तोत्र, प्रबंधकाव्य, मुक्तक, चरितकाव्य, कथा आदि साहित्य की सभी विधाओं से अपभ्रंश साहित्य भरा-पूरा है जिनमें दर्शन, इतिहास, पुराण, संस्कृति आदि विषयों पर अति सरल एवं भावपूर्ण रचनाएं लिखी गई हैं।

जैन ग्रन्थमण्डारों की खोज के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत और प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश में भी भक्ति साहित्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ है जिसने हिन्दी के भक्तिकाल को पर्याप्त प्रभावित किया है। कवि घनपाल (11वीं श. वि.) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह', जिनदत्तसूरि (12वीं श. वि.) ने 'चंचरी' और 'नवकारफल कुलक', देवसूरि (12वीं श. वि.) ने 'मुनि चन्द्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रंश में ही किया है। श्री जिनप्रभसूरि (13वीं श. वि.) ने 'जिनजन्मामिषेक', 'जिनमहिमा' और

‘मुनिसुव्रतस्तोत्रम्’ एवं श्री धर्मघोषसूरि (14वीं श.) की ‘महावीर-कलश’ रचनाएं अपभ्रंश में ही निबद्ध हैं।

जिस भाँति संस्कृत ‘श्लोक’ और प्राकृत ‘गाथा’ छन्द के लिए प्रसिद्ध है वैसे ही अपभ्रंश में ‘दूहा’ छन्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। दूहा साहित्य को दो भागों में बांटा जा सकता है — 1. भाटों तथा चारणों आदि द्वारा निर्मित शृंगार एवं वीररसप्रधान साहित्य और 2. जैन साधकों द्वारा शान्तरसप्रधान आध्यात्मिक साहित्य। हिन्दी का ‘निर्गुण-भक्ति-काव्य’ अपभ्रंश के जैन दूहा साहित्य से प्रभावित है। दोनों की अधिकांश प्रवृत्तियाँ समान हैं। डॉ० हीरालाल जैन के शब्दों में — ‘इनमें वह विचार-स्रोत पाया जाता है जिसका प्रवाह हमें कबीर की रचनाओं में प्रचुरता से मिलता है।’ डॉ० रामसिंह तोमर ने भी कहा है — ‘जो भी हो, हिन्दी साहित्य में इस रहस्यवाद-मिश्रित परम्परा के आदि-प्रवर्तक कबीर हैं और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन अपभ्रंश रचनाओं में प्राप्त होता है।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उनका ब्रह्म ऐसा व्यापक था जो भीतर से बाहर एवं बाहर से भीतर तक फैला था। वह अभावरूप भी था और भावरूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी। स्पष्ट है कबीर का ब्रह्म अनेकान्तात्मक था। अनेकान्त जैनदर्शन का प्रमुख प्रसिद्ध सिद्धान्त है। कबीर के ‘निर्गुण’ में सगुण और सगुण में निर्गुण’ सिद्धान्तवाली बात जैन अपभ्रंश दोहा साहित्य में स्पष्टतः उपलब्ध है। कबीर ने जिस ब्रह्म को निर्गुण कहा है उसे ही दिगम्बर जैन अपभ्रंश रचनाकर्त्ता आ. योगीन्दु ने अपने ‘परमात्मप्रकाश’ में निष्कल (पंचविध शरीर रहित), निरंजन, निराकार आदि कहा है। अन्य कई जैन रचनाकारों ने भी ब्रह्म के इस स्वरूप का वर्णन किया है।

जैन अपभ्रंश साहित्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण विधा है प्रबंधकाव्य जिसमें मानवजीवन से संबंधित विभिन्न पहलुओं का स्पर्श कर उनका विचार किया गया है। इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है 1. पौराणिक शैली — इस शैली में स्वयंभू के ‘पउमचरिउ’, पुष्पदंत के ‘महापुराण’, वीरू कवि के ‘जम्बूस्वामीचरिउ’ एवं हरिभद्र के ‘गोमिराहचरिउ’ आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। 2. रोमांचक शैली — धनपाल धक्कड़ की ‘भविसयत्तकहा’, पुष्पदंत का ‘गायकुमारचरिउ’, नयनंदि का ‘सुदंसणचरिउ’ आदि रचनाएं इस शैली की उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। पुष्पदंत के महापुराण के सम्पादक डॉ० पी. एल. वैद्य की मान्यता है कि यह महापुराण महाकाव्यों में एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसी प्रकार ‘गायकुमारचरिउ’ की भूमिका में डॉ० हीरालाल जैन ने इसे एक उत्तम कोटि का प्रबंधकाव्य प्रमाणित किया है।

पाटण एवं कई अन्य स्थानों के जैन ग्रंथ भण्डारों में अपभ्रंश भाषा का साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जिस पर विद्वानों द्वारा शोध करने की अति आवश्यकता है। आज भारत के विभिन्न स्थानों में इस भाषा का जो प्रभूत साहित्य उपलब्ध है उसका प्रमुख श्रेय दिगम्बर जैन समाज तथा उसके भट्टारकों, पण्डितों आदि को है जिन्होंने मुस्लिम काल के



आक्रमणों, साम्प्रदायिक उत्पातों, विद्वेषों के समय इस भाषा के हस्तलिखित ग्रंथों को सुरक्षित रखा। अकेले दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी में जैनविद्या संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग में ही लगभग 350 पाण्डुलिपियां अपभ्रंश भाषा की हैं जिनमें महाकवि पुष्पदंत के महापुराण, जसहरचरित, रायकुमारचरित आदि की प्रतियां भी हैं।

यह खेद और आश्चर्य का विषय है कि अपभ्रंश भाषा का इतना विशाल और महत्त्वपूर्ण साहित्य होते हुए भी प्रारम्भ में यह प्रायः उपेक्षित रहा। विद्वानों का ध्यान इस ओर गया ही नहीं। प्रसन्नता की बात है कि अब कुछ विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और शोध की विभिन्न दिशाओं में कार्य हो रहा है। किन्तु क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें अभी तक जो कुछ हुआ है अथवा किया जा रहा है वह अपर्याप्त है। अभी बहुत कुछ करना शेष है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान ने भी इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अंशदान करने का निश्चय किया है। फलस्वरूप संस्थान के कुछ विद्वान् अपभ्रंश के कुछ पहलुओं पर कार्य कर रहे हैं। अपभ्रंश साहित्य पर कार्य करनेवाले अन्य विद्वानों को अपनी कृतियां प्रकाश में लाने का अवसर मिल सके इस दृष्टि से जैनविद्या संस्थान ने 'जैनविद्या' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इसका प्रथम अंक 'स्वयंभू विशेषांक' के रूप में पाठकों तक पहुँच चुका है और दूसरा यह अंक 'पुष्पदंत विशेषांक : खण्ड-1' पाठकों के हाथों में है।

इस कार्य में जिन-जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएं भेजकर, रुचि प्रकट कर तथा संस्थान के निदेशक/पत्रिका के प्रधान-सम्पादक एवं अन्य सहयोगियों ने जो सहयोग प्रदान किया है उन सबके प्रति संस्थान समिति आभारी है। समिति के अपने ही सदस्य डॉ. कमलचन्द सोगानी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-दर्शनशास्त्र विभाग, सुल्ताडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर भी पूर्व की भाँति इस अंक को 'पुष्पदंत विशेषांक' के रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रेरणा देने एवं सम्पादन कार्य में सहयोग देने हेतु विशेष धन्यवादार्ह हैं। जयपुर प्रिण्टर्स के प्रोप्राईटर श्री सोहनलाल जैन को भी शुद्ध, सुन्दर एवं कलापूर्ण मुद्रण के लिए धन्यवाद अर्पित है।

— (डॉ०) गोपीचन्द्र पाटनी

एसवी-10 जवाहरलाल नेहरू मार्ग  
बापूनगर, जयपुर-302004

जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी,  
जयपुर



## प्रकाशकीय

“जैनविद्या” पत्रिका का द्वितीय अंक सुप्रसिद्ध पुराण एवं साहित्यकार महाकवि पुष्पदन्त के नाम पर प्रकाशित करते हुए हमारा हृदय पुलकित हो रहा है। इससे पूर्व पत्रिका का प्रथम अंक अपभ्रंश के ही ज्ञात महाकवियों में आद्यतम महाकवि स्वयंभू के नाम पर प्रकाशित हुआ था जिस पर पत्रों, विद्वानों, चिन्तकों, भाषाशास्त्रियों आदि की जो प्रशंसापूर्ण सम्मतियाँ प्राप्त हुईं और जिनमें से कुछ को संक्षिप्त रूप में इसी अंक में प्रकाशित किया जा रहा है उनसे हमारे उत्साह में द्विगुणित वृद्धि हुई है।

गद्य और पद्य में निबद्ध वे सब प्रकार की रचनाएँ जो सार्वजनीन हित की हों “साहित्य” शब्द से अभिहित की जाती हैं। जैन आचार्यों और विद्वानों द्वारा लिखा गया साहित्य “साहित्य” की इस परिभाषा पर खरा उतरता है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह या तो “स्वान्तःसुखाय” था अथवा लोककल्याण की भावना से प्रेरित। अलंकार, रस आदि साहित्य के अन्य अंग उनके लिए गौण थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य के इन अंगों और विधाओं को उन्होंने छुआ ही न हो। प्रसंगोपात्त इनका समावेश जैन रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में हुआ है और वह नगण्य अथवा उपेक्षणीय नहीं है।

तीर्थंकरों का कल्याणकारी उपदेश जन-जन तक पहुँच सके इसके लिए उन्होंने उस समय की प्रचलित लोक-भाषा का चयन किया। स्वयं भगवान् महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्द्ध-मागधी को जो अपने उपदेशों का माध्यम बनाया उसका एकमात्र कारण यह था कि उनके जनहितकारी उपदेश साधारण से साधारण प्राणी की भी समझ में आ सकें। उनके बाद में होनेवाले जैन रचनाकारों ने इस परम्परा को चालू रखा। यही कारण है कि भारत की प्रायः प्रत्येक लोकभाषा में जैन रचनाकारों द्वारा रचित साहित्य प्रभूत मात्रा में प्राप्त होता है।

प्राकृत के पश्चात् जिस भाषा ने लोकभाषा का स्वरूप ग्रहण किया वह अपभ्रंश नाम से पुकारी जाती है। आज से 82-83 वर्ष पूर्व इस भाषा का साहित्य अज्ञात था क्योंकि यह जैन ग्रंथ भण्डारों में बन्द पड़ा रहा और भारतीय विद्वानों द्वारा उसे धार्मिक साहित्य-मात्र समझा जाकर उसकी उपेक्षा की जाती रही। सन् 1902 में सर्वप्रथम प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशल ने "मारेरी अलिएव सुर केण्टिनस डेस अपभ्रंश" शीर्षक एक निबंध लिख कर विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसके पश्चात् जर्मनी के ही जैकोबी, आल्सफोर्ड आदि विद्वानों ने इसमें रुचि लेकर इस कार्य को आगे बढ़ाया और भारतीय साहित्य के इतिहास में इस भाषा के महत्त्व को भाषाविदों के सामने रखा। यदि ये विदेशी विद्वान् ऐसा नहीं करते तो अभी भी शायद यह विषय उपेक्षित ही रहता। एतदर्थ भारतीय साहित्य जगत् सदा उनका ऋणी रहेगा।

अपभ्रंश भाषा की अब तक ज्ञात रचनाओं में से अधिकांश जैन विद्वानों द्वारा रचित हैं। इस कारण वे मात्र लोकानुरंजक न होकर जनहितकारी भी हैं। अपभ्रंश के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही संस्थान के उद्देश्यों के अनुकूल पत्रिका ने अपभ्रंश भाषा के जैन रचनाकारों पर विशेषांकों की शृंखला आरम्भ की है।

हमारे प्रकाशनों के संबंध में पाठकों द्वारा बतलाई गई कमियों, त्रुटियों का सदा ही स्वागत है। इस प्रकार हमारे ध्यान में लाई गई खामियों को भविष्य के प्रकाशनों में दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

जिन विद्वान् साहित्यकारों ने रचनाएं प्रेषित कर सहयोग प्रदान किया उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना हम हमारा परम कर्तव्य मानते हैं। साथ ही संस्थान के संयोजक महोदय डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी, मानद निदेशक एवं प्रधान सम्पादक प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन, सहायक सम्पादक श्री भंवरलाल पोल्याका एवं सुश्री प्रीति जैन आदि सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य में दिये गये सहयोग हेतु तथा जयपुर प्रिण्टर्स के प्रोप्राइटर श्री सोहनलाल जैन आकर्षक कलापूर्ण मुद्रण के लिए धन्यवादाह हैं जिनके सम्मिलित प्रयासों और सहयोग का ही यह परिणाम है।

— कपूरचन्द पाटनी  
प्रबन्ध सम्पादक



## आरम्भिक

“जैनविद्या” पत्रिका का द्वितीय अंक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य की विभिन्न विधाओं की श्रीवृद्धि में जनाचार्यों, गृहस्थ विद्वानों, त्यागियों, व्रतियों आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अपभ्रंश भाषा के ज्ञात साहित्य का लगभग अस्सी प्रतिशत तो जैन साहित्यकारों की ही देन है अतः यह कहना कि अपभ्रंश भाषा के साहित्य निर्माण में, उनकी विभिन्न विधाओं को समृद्ध बनाने में जैनों की प्रमुख भूमिका रही है अत्युक्ति नहीं है।

अपभ्रंश यद्यपि उत्तर भारत की लोकभाषा रही है किन्तु इस भाषा के प्राचीनतम ज्ञात साहित्य का निर्माण दक्षिण में हुआ। अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयंभू एवं पुष्पदंत की साहित्य निर्माणस्थली दक्षिण भारत ही थी। दोनों ने ही दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रान्त को अपने आवास से पवित्र किया था।

साहित्य का प्रणयन जिस कालविशेष में होता है उस समय की सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं गतिविधियों का प्रभाव उस काल में निर्मित साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहता। अतः ये कृतियाँ इस विषय का अध्ययन करने-वाले विद्वानों के लिए दर्पण का कार्य करती हैं। भाषा के उद्भव, विकास तथा भाषागत प्रवृत्तियों आदि के समझने में ये कृतियाँ सहायक होती हैं।

अपभ्रंश भाषा का विकास और प्रसार काल ईसा की छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जाता है किन्तु इसके पश्चात् भी इस भाषा में साहित्य का निर्माण होना अपेक्षाकृत कम भले ही हो गया हो किन्तु सर्वथा बन्द नहीं हुआ। यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि इस भाषा की अन्तिम रचना पाण्डे भगवतीदास की सम्बत् -1700 की मृगांकलेखाचरित्र अपर नाम शशिलेहाचरित्र प्राप्त होती है।

प्राकृत और वर्तमान खड़ी बोली के विकास का इतिहास जिसके अध्ययन के बिना सम्बद्ध नहीं हो सकता, जुड़ नहीं सकता वह है अपभ्रंश। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशल, जैकोबी आदि ने किया। इसके पश्चात् भारतीय विद्वानों ने इस कड़ी का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया। किन्तु इस ओर जो प्रयत्न अब तक हुए हैं वे बहुआयामी एवं बहुपरिमाणी होते हुए भी पर्याप्त नहीं हैं। अभी तक इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया जाना शेष है।

अपभ्रंश भाषा के ज्ञात साहित्य में से अधिकांश जैन ग्रंथ भण्डारों से प्राप्त हुआ है किन्तु अभी भी सैकड़ों ऐसे ग्रंथ भण्डार हैं जिनका सर्वेक्षण होना शेष है। यदि ऐसा संभव हो सके तो इस भाषा की अनेक ऐसी रचनाएं प्रकाश में और आ सकती हैं जो अब तक अज्ञात रही हैं।

अपभ्रंश भाषा के आद्य कवि कौन थे यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित ही है क्योंकि वर्तमान में ज्ञात कवियों में से प्राचीनतम कवि स्वयंभू ने अपनी रचनाओं में अपने पूर्ववर्ती ईशान, चतुर्मुख, द्रोण आदि कवियों का उल्लेख किया है जिनकी कोई रचना अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। अतः पत्रिका का प्रथम अंक हमने अब तक ज्ञात ऐसे महाकवियों जिनकी कि रचनाएं उपलब्ध हैं, में से कवि स्वयंभू के नाम पर 'स्वयंभू विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया था। योजना यह है कि अपभ्रंश भाषा के प्रत्येक कवि पर कालक्रमानुसार एक विशेषांक प्रस्तुत किया जाय जिससे कि उस कवि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का विभिन्न दृष्टिकोणों से विस्तृत अध्ययन एक ही स्थान पर हो सके। इस योजना का साहित्य-जगत् में हमारी आशा से भी अधिक स्वागत हुआ है यह प्रथम अंक पर प्राप्त उन अनेक सम्मतियों से, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त प्रकाशन इस अंक में किया जा रहा है, स्पष्ट है।

महाकवि स्वयंभू के पश्चात् जिस महाकवि का नाम अपभ्रंश साहित्य के ज्ञात रचनाकारों की सूची में आता है वे हैं महाकवि पुष्पदंत। दोनों ही कवि अपभ्रंश साहित्य-गगन के ऐसे ज्वलन्त नक्षत्र हैं जिनमें से किसी एक का महत्त्व दूसरे से कम नहीं आंका जा सकता। स्वयंभू ने जहाँ तत्कालीन समाज में बहुचर्चित राम और कृष्ण कथाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है वहाँ पुष्पदंत ने अपने काव्य प्रणयन के लिए त्रैलोक्य शलाकापुरुषों (महापुरुषों) के चरित्र को चुना। अपभ्रंश में पौराणिक महाकाव्यों की शैली जैन कवियों की देन है। पुष्पदंत इस शैली के सफल प्रणेता और कलाकार हैं अतः स्वयंभू के पश्चात् पुष्पदंत के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर सामग्री प्रस्तुत करने का निश्चय औचित्यपूर्ण ही है। सौभाग्य से इस कवि पर इतनी प्रचुर, महत्त्व एवं वैविध्य पूर्ण सामग्री प्राप्त हुई कि उसे एक ही अंक में समाहित करना संभव न हो सका। अतः उस सामग्री का दो खण्डों में विभाजन किया गया। प्रस्तुत प्रथम खण्ड में पुष्पदंत की एक ही रचना "महापुराण" सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन किया जा रहा है और आगामी खण्ड में उनकी शेष दो कृतियों "जसहरचरिउ" और "गायकुमारचरिउ" का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

इस ग्रंथ में भी "आरांदा" शीर्षक से एक आध्यात्मिक रचना सानुवाद प्रकाशित की जा रही है। वैसे यह रचना भिक्षु स्मृति ग्रंथ के द्वितीय खण्ड में मूलरूप में तो प्रकाशित हो चुकी है किन्तु उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ हो ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है। रचना के मूलरूप का संशोधन भी तीन प्रतियों के आधार से हुआ है और साथ में पाठभेद भी दे दिये हैं जिससे उसकी महत्ता और उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

हमारी घोषित नीति के अनुसार रचनाएं प्रायः मूलरूप में ही प्रकाशित की जा रही हैं अतः स्वभावतः उनमें प्रकाशित तथ्यों, विचारों आदि के लिए स्वयं लेखक ही उत्तरदायी हैं।

पुष्पदंत के पश्चात् हमारा विचार अपभ्रंश भाषा के ही कवि धनपाल एवं धवल पर सामग्री प्रस्तुत करने का है। विद्वानों, चिन्तकों एवं मनीषियों से अनुरोध है कि वे इस विषय पर न केवल अपनी मौलिक रचनाएं ही हमें भेजें अपितु, दूसरों को भी इस हेतु प्रेरित कर हमारा सहयोग करें। सामग्री जितनी शीघ्र हमें प्राप्त होगी उतनी ही शीघ्र हम उसे पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे।

हम पुनः सूचित कर रहे हैं कि समीक्षार्थ नवीन प्रकाशनों की तीन प्रतियां प्राप्त होने पर पत्रिका में उनकी समीक्षा प्रकाशित हो सकेगी।

इस कार्य में जिन विद्वान् रचनाकारों, सहयोगी सम्पादकों तथा सम्पादक-मण्डल के सदस्यों और मुद्रकों आदि का सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

— (प्रो०) प्रवीणचन्द्र जैन  
प्रधान सम्पादक

# महाकवि पुष्पदन्त : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

— डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'



अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवियों में पुष्पदन्त का स्थान प्रमुख है। विख्यात विद्वान् डॉ० राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'हिन्दी काव्यधारा' नामक अपभ्रंश काव्यों के संकलन में महाकवि स्वयंभू के बाद राहुलजी ने दूसरा स्थान राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय (सं० 996-1025) के मंत्री भरत एवं नन्न के आश्रित अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त को दिया है। महाकवि पुष्पदन्त कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम केशव भट्ट और मातृश्री का नाम मुग्धा देवी था।<sup>1</sup> आरम्भ में कविश्री शैव मतावलम्बी थे और उन्होंने शैव नामक किसी शैव राजा की प्रशंसा में काव्य का प्रणयन भी किया था।<sup>2</sup> बाद में अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त किसी जैन मुनि के उपदेश से जैन हो गये और मान्यखेट में आकर मंत्री भरत के अनुरोध से जिनभक्ति से प्रेरित होकर काव्य-सर्जन में प्रवृत्त हुए।<sup>3</sup> बरार निवासी<sup>4</sup> पुष्पदन्त ने संन्यास विधि से मरण किया।<sup>5</sup>

महाकवि पुष्पदन्त अत्यन्त स्वाभिमानी थे। पुष्पदन्त का घरेलू नाम खण्ड या खण्डू था।<sup>6</sup> 'खण्डूजी' नाम महाराष्ट्र में अब भी प्रचलन में है। आपका स्वभाव उग्र और स्पष्टवादी था। भरत और बाहुबली के कथा-संदर्भ में आपने राजा को लुटेरा और चोर तक कह दिया है।<sup>7</sup> कवि के उपाधिनाम अभिमानमेरु<sup>8</sup>, अभिमानचिह्न<sup>9</sup>, काव्यरत्नाकर<sup>10</sup>, कविकुलतिलक<sup>11</sup>, सरस्वती-निलय<sup>12</sup> और कव्व-पिसल्ल<sup>13</sup> अर्थात् काव्य-पिशाच या काव्य-राक्षस थे। 'कव्वपिसल्ल' पदवी बड़ी अद्भुत है। यह कवि के मौजी और फक्कड़ स्वभाव का प्रतीक है। कवि प्रकृति से अक्खड़ और निःसंग थे। उन्हें सांसारिक वस्तु की आकांक्षा नहीं थी। वह मात्र निःस्वार्थ प्रेम के अभिलाषी थे।<sup>14</sup>

कविश्री पुष्पदन्त के व्यक्तित्व में स्वाभिमान और विनयशीलता का एक विचित्र संगम परिलक्षित है। एक ओर वह अपने को ऐसा महान् कवि बतलाते हैं जिसकी बड़े-बड़े विशालग्रंथों के ज्ञाता और मुद्दत से कविता करनेवाले भी समानता नहीं कर सकते और सरस्वती से कहते हैं कि हे देवि ! अभिमानरत्न-निलय पुष्पदन्त के बिना तुम कहाँ जाओगी, तुम्हारी क्या दशा होगी ? और दूसरी ओर वह कहते हैं कि मैं दर्शन, व्याकरण, सिद्धान्त, काव्य, अलंकार कुछ भी नहीं जानता, गर्भमूर्ख हूँ। न मुझ में बुद्धि है, न श्रुतसंग, न किसी का बल है।<sup>15</sup> हरिषेण कवि तो यहाँ तक कहते हैं कि पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही हैं, सरस्वती उनका पीछा नहीं छोड़ती।<sup>16</sup> बारा के बाद राजनीति का इतना उग्र आलोचक दूसरा लेखक नहीं हुआ। सचमुच मेलपाटी के उस उद्यान में हुई अमात्य भरत और पुष्पदन्त की भेंट भारतीय साहित्य की बहुत बड़ी घटना है। यह अनुभूति और कल्पना की अक्षय धारा है जिससे अपभ्रंश साहित्य का उपवन हरा-भरा हो उठा। मंत्री भरत माली थे और कृष्ण वर्ण कुरुप पुष्पदन्त कवि-मनीषी, उनके स्नेह के आलवाल में कविश्री का काव्य-कुसुम मुकुलित हुआ।<sup>17</sup>

कविकोविद पुष्पदन्त का साहित्य-सर्जन के पीछे एक निश्चित उद्देश्य रहा है। वह किसी राजा की स्तुति के लिए काव्य लिखना ठीक नहीं समझते थे। साहित्य के द्वारा धनार्जन करना भी कवि का लक्ष्य नहीं था। उन्हें तो जिनभक्ति से प्रेरित होकर ही ग्रंथों की संरचना अभिप्रेत है।<sup>18</sup> पुष्पदन्त ने काव्य लिखने के लिए अनुभूति को प्रमुख स्थान दिया है।<sup>19</sup> कवि का कहना है कि जिनपदभक्ति से मेरा कवित्व वैसे ही फूट पड़ता है जैसे मधुमास में आम के बौरों पर कोयल कूक उठती है, कानन में अमर नूँजेन लगते हैं, कीर आनन्द से भर उठता है।<sup>20</sup> पुष्पदन्त ने सरस्वती-वंदना करते हुए अपने काव्य सम्बन्धी विचार इस प्रकार उद्भूत किये हैं—कोमल पद, पर कल्पना गूढ़ हो, भाषा प्रसन्न और गम्भीर होनी चाहिये। कवि छंद और अलंकार को काव्य की गति का आवश्यक साधन मानते हैं। शास्त्र और अर्थतत्त्व की गम्भीरता स्वीकारते हैं।<sup>21</sup>

इस निकष पर कवि का काव्य खरा उतरता है। कवि बार-बार अलंकृत या रस-भरी कथा की उपमा देते हैं।<sup>22</sup> आपका आशय यही था कि कथा-निर्वाह तथा रस और अलंकार का समावेश औचित्यसम्पुक्त होना चाहिये। महापुराण<sup>23</sup>, राायकुमार-चरित<sup>24</sup> तथा जसहरचरित<sup>25</sup> में सदृश उपमाएँ द्रष्टव्य हैं।

वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में अपभ्रंश भाषा के नागर, उपनागर और ब्राह्म - ये तीन भेद किये हैं। इनमें से ब्राह्म को लाट (गुजरात) और विदमं (बरार) की भाषा बतलाया है। अस्तु, पुष्पदंत की भाषा अपभ्रंश ब्राह्म होनी चाहिये।<sup>26</sup> महाकवि पुष्पदंत ने कवि-समयों तथा कथानकरूढ़ियों का प्रयोग न किया होता तो मध्ययुगीन साहित्य भी कविसमय तथा कथानकरूढ़ियों के प्रयोग से यत्किंचित् अछूता ही रह जाता। पुष्पदंत-द्वारा प्रयुक्त कविसमय तथा कथानकरूढ़िसम्बन्धी प्रयोग एक आदर्श निकष स्थापित करते हैं जिससे इनकी मौलिकता का श्रौवर्द्धन होता है।<sup>27</sup>

पुष्पदंत असाधारण प्रतिभाशाली महाकवि थे। इतना ही नहीं वे विदग्ध दार्शनिक और जैनसिद्धान्त के प्रकाण्ड पंडित भी थे। कृशकाय होने पर भी कवि की आत्मा अत्यन्त



तेजस्विनी थी। महाकवि पुष्पदंत की तीन रचनाएँ—तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार, णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ उपलब्ध हैं।<sup>28</sup> यह प्रसन्नता का प्रसंग है तीनों ही ग्रंथ आधुनिक पद्धति से सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत शोधालेख में पुष्पदंत विरचित ग्रन्थत्रय की साहित्यिक विवेचना हमें अभीप्सित है—

### तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार (त्रिषष्टिमहारुषगुणालंकार)

यह विशाल ग्रंथ 'महापुराण' संज्ञा से अधिक जाना जाता है। 'महापुराण' दो खण्डों में विभक्त है—आदिपुराण और उत्तरपुराण। ये दोनों खण्ड अलग-अलग ग्रंथ रूप में मिलते हैं। इन दोनों खण्डों में त्रैसठ शलाका पुरुषों के चरित शब्दित हैं। प्रथम खण्ड में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का तथा दूसरे खण्ड में शेष तेईस तीर्थंकरों का और उनके समयुगीन अन्य महापुरुषों—नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि की जीवन-गाथा गुम्फित है। उत्तरपुराण में पद्मपुराण (रामायण) और हरिवंशपुराण (महाभारत) भी सम्मिलित हैं। ये पृथक्-पृथक् ग्रंथ रूप में भी प्राप्त हैं। आदिपुराण में अस्सी तथा उत्तरपुराण में बियालीस सन्धियाँ (सर्ग) हैं। इनका श्लोक परिमाण बीस हजार है। इस विस्तीर्ण ग्रंथ की सर्जना में कवि पुष्पदंत को लगभग छह वर्ष लगे थे। इस महान् ग्रंथ के लिए कवि पुष्पदंत ने स्वयं कहा है कि इसमें सब कुछ है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है<sup>29</sup>—

अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिच्छन्दसा-  
मथालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णायकः ॥  
किचान्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते ।  
द्वावैतौ भरतेशपुष्पदशनी सिद्धं ययोरोद्गमम् ॥

'महापुराण' में पुष्पदंत ने लोकभाषा का व्यवहार किया है जिसमें वाग्धाराओं, लोकोक्तियों और सुन्दर सुभाषितों के विनियोग से विशेष सौन्दर्य आ गया है। ध्वन्यात्मक भाषा का कवित्वपूर्ण उदाहरण द्रष्टव्य है—

होइ गिरि स्थलु रिणविसे सम-थलु ।  
किण किण किर कहुमियउँ जलु ॥  
किण किण किर संचूरिउ वणु ।  
किण किण धूलि जायउ तणु ॥

कवि ने जहाँ पर भी वर्णनों में प्राचीन परम्परा का आश्रय लिया है वहाँ शैली अलंकृत और दुरूह है। जहाँ पर परम्परा को छोड़ स्वतंत्र शैली का प्रयोग हुआ है वहाँ भाषा अधिक स्पष्ट, सरल और प्रवाहमयी है। 'महापुराण' के आरम्भ में परम्परागत सज्जन-प्रशंसा एवं दुर्जन-निंदा के साथ-साथ कवि पुष्पदंत ने अपनी विनम्रता कालिदास की भाँति 'क्व चाल्पविषया मतिः' कह कर व्यक्त की है। ग्रंथ में तिरसठ महारुष वर्णित होने से कथानक पर्याप्त विस्तृत एवं विष्टुंखलित है तथापि बीच-बीच में नगरों और ज्ञानों आदि के भव्य वर्णन से रोचकता का समायोजन उल्लेखनीय है।<sup>30</sup> रस-योजना के दृष्टिकोण से काव्य में वीर, शृंगार और शांत रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

इसमें प्रकृति के एक नहीं अनेक दृश्यवर्णन हियहारी हैं। प्रकृति के दृश्यों का कवि पुष्पदंत ने सजीव एवं गत्यात्मक चित्रण किया है। वसंत आदि ऋतुओं का वर्णन प्रभावक बन पड़ा है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का प्रचुर प्रयोग प्रशस्य है।

इस प्रकार सम्पूर्ण पुराण अनेक सामाजिक, राजनीतिक बातों का एक विश्वकोष है।<sup>31</sup> ग्रंथान्त में पुष्पदंत कहते हैं कि इस रचना में प्रकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्त्वार्थ-निराणय सब कुछ समाविष्ट हैं।

### गायकुमारचरित (नागकुमारचरित)

यह प्रबन्धकाव्य पुष्पदंत की दूसरी संरचना है। नौ सन्धियों के इस काव्य में श्रुतपंचमी का माहात्म्य बतलाने के लिए नागकुमार का चरित वर्णित है। मान्यखेट में भरत मंत्री के पुत्र नन्न के उपाश्रय में पुष्पदंत ने 'गायकुमारचरित' का प्रणयन किया था। कहते हैं कि महोदधि के गुणवर्म और शोभन नामक दो शिष्यों ने प्रार्थना की कि आप पंचमी-फल की रचना कीजिए। महामात्य नन्न ने भी उसे सुनने की इच्छा प्रकट की और फिर नाइल्ल और शील भट्ट ने भी आग्रह किया।<sup>32</sup> इस काव्य की कथा रोमाण्टिक है। इस चरित के नायक नागकुमार एक राजपुत्र हैं किन्तु सौतेले भ्राता श्रीधर के विद्वेषवश वह अपने पिता द्वारा निर्वासित नाना प्रदेशों में भ्रमण करते हैं तथा अपने शौर्य, नैपुण्य व कला-चातुर्यादि द्वारा अनेक राजाओं व राजपुरुषों को प्रभावित करते हैं। बड़े-बड़े योद्धाओं को अपनी सेवा में लेते हैं तथा अनेक राजकन्याओं से विवाह करते हैं। अंततः पिता द्वारा आमंत्रित किये जाने पर पुनः राजधानी को लौटते हैं और राज्याभिषिक्त होते हैं। जीवन के अंतिम चरण में संसार से विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेकर मोक्ष-वधू का वरण करते हैं।

इस कथा-काव्य की कतिपय घटनाएँ और प्रसंग तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण करते हैं।<sup>33</sup> पौराणिक काव्यरूढ़ियों का प्रयोग भी बखूबी हुआ है। वस्तुतः यह जीवनचरित जैनकाव्य-प्रणेताओं को प्रियकर रहा है।

कविश्री पुष्पदंत ने ग्रंथारम्भ में सरस्वती-वंदना प्रसंग में काव्य-तत्त्वों का सुन्दर रूप में विवेचन किया है।<sup>34</sup> कवि इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन और भावाभिव्यञ्जन में भी सफल हुआ है। राजगृह के चित्रण में उत्प्रेक्षा की लड़ी द्रष्टव्य है<sup>35</sup> -

जोयइ व कमलसरलोयणेहिं, एण्चइ व पवणहल्लियवणेहिं।  
 लिहकइ व सलियवल्लीहरेहिं, उल्लसइ व बहुजिएवरहरेहिं।  
 वणियउ व विसमवम्महसरेहिं, कणइ व रयपारावयसेरेहिं।  
 परिहइ व सपरिहाषरियणीव, पंगुरइ व सियपायारचीव।  
 एं घरसिहरगहिं सग्गु छिवइ, एं चंदअमियधाराउ पियइ।  
 कुंकुमछडएं एं रइहि रंगु, एणवइ वक्खालिय-सुहपसंगु।  
 विरइयमोत्तियरंगावलीहिं, जं भूसिउ णं हारावलीहिं।  
 चिधेहिं धरिय णं पंचवण्णु, चउवण्णजणेण वि अइरवण्णु।

काव्य में प्रकृति-चित्रण परम्परामुक्त तथा भाषा अलंकार एवं मनोरम है। यह काव्य अनेक अलौकिक घटनाओं से, स्वप्नज्ञान एवं शकुन-विचार से अनुप्राणित है।

इस प्रकार यह चरितकाव्य रस, अलंकार, प्रकृति-चित्रण, छंदादि सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

### जसहरचरिउ (यशोधरचरित)

कवि पुष्पदंत द्वारा विरचित यह चरित-काव्य चार सन्धियों में पुण्यपुरुष यशोधर की जीवन-कथा को प्रस्तुत करता है। यह कथानक जैन परम्परा में इतना प्रिय रहा है कि सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिग्गम्बर-श्वेताम्बर लेखकों ने इसे अपने ढंग से प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में लिखा है।<sup>36</sup> इनमें पुष्पदंत की तीसरी और आखिरी कृति 'जसहरचरिउ' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना कवि ने मान्यखेट की लूट के समय 972 ई० के आस-पास की थी।<sup>37</sup>

प्रस्तुत कथा का मुख्य लक्ष्य जीव-बलि का विरोध है। कथानक का विकास कुछ नाटकीय ढंग से होता है। समूचा कथानक धार्मिक और दार्शनिक उद्देश्यों से परिपूर्ण है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक संकेत भी दृष्टिगत हैं। इस कृति में कवि का आदर्श ऊँचा है और शैली उत्तम पुरुष में होने से आत्मीय है। पौराणिक काव्य की सभी रूढ़ियाँ इसमें हैं। कवि पुष्पदंत ने अपनी रचना को धर्मकथानिबद्ध कहा है।<sup>38</sup>

'जसहरचरिउ' में वस्तु-वर्णन एवं रसपरिपाक भली-भाँति नहीं हुआ है। वर्णन प्राचीन परिपाटी के अनुकूल है। उसमें कोई नवीनता नहीं है। नाना जन्मान्तरों की ऐसी पेचीदी कहानी अपभ्रंश में कोई दूसरी नहीं है। कदलीपात सदृश इस चरित में कथा के अन्दर कथा सुनियोजित है। इस प्रकार भावोद्रेक का अभाव सर्वत्र परिलक्षित है तथापि ग्रंथ की भाषा वेगवती, अनुप्रासमयी, मुहावरेदार एवं अलंकृत है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अपभ्रंश भाषा के महान् कवि पुष्पदंत की रचनाओं में ओज, प्रवाह, रस, और सौन्दर्य का समायोजन उत्कृष्ट है। भाषा पर कवि का अधिकार असाधारण है। शब्दों का भंडार विशाल है और शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों से ही कवि-काव्य समृद्ध है। पुष्पदंत नैषधकार श्रीहर्ष के समान ही मेधावी महाकवि थे।<sup>39</sup> तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश जगत् के सिरमौर हैं। स्वयंभू में यदि भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत में बंकिम मंगिमा है। स्वयंभू की भाषा में प्रसन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत भाँकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का श्रेष्ठ निदर्शन।<sup>40</sup> अतएव डॉ० एच०सी० भायाणी<sup>41</sup> ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास और पुष्पदंत को भवभूति कहा है। वस्तुतः कविमनीषी पुष्पदंत अपभ्रंश वाङ्मय की अमूल्य निधि हैं और जैन साहित्य इस निधि पर गर्वानुभूति कर धन्य है।

1. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई। प्रथम संस्करण 1942, पृष्ठ 301-302
2. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण 1965, पृष्ठ 68

3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, सागर। प्रथम संस्करण 1974, पृष्ठ 105
4. महापुराण, तृतीय खण्ड, भूमिका, पृष्ठ 4
5. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 302
6. (क) जो विहिणा रिम्मिउ कव्वपिडु, तं रिणसुरिणिवि सो संचलिउ. खंडु ।  
(महापुराण, सन्धि-1, क. 6)  
(ख) मुग्घे श्रीमदनिन्द्यखण्डसुकवेबंन्धुर्गुरौरुन्नतः (महापुराण, सन्धि-3)  
(ग) वाञ्छन्तित्यमहं कुतूहलवती खंडस्य कीर्तिः कृतेः । (महापुराण, सन्धि-39)
7. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 72
8. (क) तं सुरोवि भणइ अहिमाणमेह । (म. पु. 1.3.12)  
(ख) कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्री पुष्पदंतं बिना (म. पु., सं. 45)  
(ग) राणणहो मंदिरि रिणवसंतु संतु, अहिमाणमेह गुणगणमहंतु ।  
(रायकुमारचरिउ, 1.2.2)
9. वय संजुत्ति उत्तम सत्ति वियलिय संकि अहिमाणंकि । (यशोधर चरित, 4.31.3)
10. भो-भो केसव तणुरुह रावसररूहमुह कव्व रयण रयणायर । (महापुराण, 1.4.10)
11. तं रिणसुरोवि भरहें वुत्तु ताव, भो कइकुलतिलयं विमुक्क गाव । (महापुराण 1.8.1)
12. अग्गइ कइराउ पुप्फयंतु सरसइरिणलउ ।  
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ॥  
(यशोधर चरित - 1.8.15)
13. (क) जिणचरणकमलभत्तिल्लएण, ता जंपिउ कव्वपिसल्लएण ।  
(महापुराण 1.8.8)  
(ख) बोल्लाविउ कइकव्वपिसल्लउ, कि तुहुं सच्चउ बप्प गहिल्लउ ।  
(महापुराण, 38.3.5)  
(ग) राण्णस्स पत्थराए कव्वपिसल्लए ण पहसियमुहेण ।  
(रायकुमारचरिउ, अंतिम पद्य)
14. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4 पृष्ठ 105
15. महापुराण, तृतीय खण्ड, भूमिका, पृष्ठ 9-10
16. धम्मपरिक्खा, 11-26
17. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 73
18. मज्झिमसुत्तणु जिणपद भत्तिहि, पसरइ राउ रिणय जीविय वित्तिहि ।  
(महापुराण, 2-6)
19. महाकवि पुष्पदंत, राजनारायण पाण्डे, पृष्ठ 50-84
20. बोल्लइ कोइल अंबय कलियहि कांराणि चंचरीउ रूणुरूं टइ ॥  
(महापुराण, 2-6)
21. महापुराण-1

22. महापुराण-2, पृष्ठ, 18, 43, 137, 158, 212, 355
23. महापुराण-2, पृष्ठ 291
24. गायकुमारचरित, 32, 44, 49
25. तणुरूह कव्वत्थु व रइमईए । (जसहरचरित, 18)
26. महापुराण, तृतीय खण्ड, भूमिका, पृष्ठ-4
27. पुष्पदंत प्रयुक्त कविसमयों एवं कथानकरूढ़ियों का परवर्ती मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, कु० मीरा रानी शर्मा, आशरा विश्वविद्यालय की पीएच. डी. का स्वीकृत शोध प्रबन्ध । सन् 1983, पृष्ठ 509
28. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, डॉ० नेमीचन्द्र जैन पृष्ठ 109-112
29. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 313
30. जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह तोमर, एम. ए., संगृहीत ग्रंथ-प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, प्रेमी अभिनंदन समिति, टीकमगढ़ । सन् 1946, पृष्ठ 464
31. (क) जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री, श्री कामताप्रसाद जैन, संगृहीत ग्रन्थ-प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ, वही, पृष्ठ 456  
(ख) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ० नामवरसिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 । तृतीय संस्करण 1961, पृष्ठ 202
32. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 314
33. जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री, श्री कामताप्रसाद जैन, संगृहीत ग्रंथ-प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़ । सन् 1946, पृष्ठ 456
34. गायकुमारचरित, सम्पादक, अनुवादक - डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-1  
द्वितीय संस्करण, सन् 1972 ई०, सन्धि-1, पृष्ठ 2-3
35. गायकुमारचरित, वही, संधि 1.7, पृष्ठ 6-7
36. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 314
37. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ० नामवरसिंह, पृष्ठ 208
38. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 124
39. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृष्ठ 112
40. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ० नामवरसिंह, पृष्ठ 202
41. स्वयंभूकृत 'पउमचरित' के यशस्वी सम्पादक तथा अपभ्रंश भाषा के सुविज्ञ ।



## चन्द्रप्रभ स्तुति

शिखरिन्दह वयणचंदजियचंदह ।

पणवि वि कुवलयचंदह चंदप्पहह जिणदह । ध्रुवकं ।

शिखरिन्दह तमं विणीयं, सुयणउत्तीहि जयं विणीयं ।

कयं कयत्थं किर जेण शिखरिन्दह, शिखरिन्दह जं देववई वि शिखरिन्दह ।

अतुच्छलच्छीहलकप्पभूयं, उदारचित्तं गुणपत्तभूयं ।

दयावरं पालियसव्वभूयं, शिखरिन्दह संबोहियरक्खभूयं ।

शं पियालीविरहे विसण्णं, शिखरिन्दह महंतं विमलं विसण्णं ।

विसुद्धभावं विगयप्पमायं, परं परेसं परिभीणमायं ।

शिखरिन्दह जं महियंतरायं, परज्जियाणंतदुरंतरायं ॥

पबुद्धदुक्कम्मविवायवीलं, विण्णदुव्वाइविवायवीलं ।

सुसच्चतच्चंगविधारणासं, अणंगसिगारविधारणासं ।

सदित्तियाभक्खरभावहारं, भवोहसंभूइभयावहारं ।

पुरंदरालोयणजोग्गत्तं, समुज्झियाहम्मदुपंकगत्तं ।

शिखरिन्दहपप्पव्वहसेलपायं, शिखरिन्दहचूडामणिघट्ठपायं ।

खणिंददेविंदमुणिंदघेयं, शिखरिन्दह चंदप्पहरणामघेयं ।

भणामि तस्सेव पुराणो पुराणं, गणोसगीयं पवरं पुराणं ।

घत्ता - अमलइ अत्थरसालइ वयणणावुप्पलमालइ ।

अट्ठमु शिखरिन्दह पुज्जमि पउरु पुण्ण आवज्जमि ॥

- महाकवि पुष्पदन्त

( म० पु०, 45.1 )

# अपभ्रंश के संवेदनशील महाकवि पुष्पदंत

— डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

□

मानवीय संवेदनाओं के कुशल चित्रकार, बिम्ब-विधान में अनुपम, प्रतीक-संयोजना में सफल, प्रकृति की पृष्ठभूमि में मानवीय चेतना का सजीव वर्णन करने में रससिद्ध कवि तथा प्रकृति की सूक्ष्म संवेदनाओं को मानवीय धरातल पर अंकित करनेवाले विविध रंगों की चित्रशाला में सौंदर्य का सफल अंकन पृष्ठभूमि में विभिन्न चित्रों के अभिव्यंजित करनेवाले महाकवि पुष्पदंत उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्य देशी भाषा का सेतु निर्माण कर शास्त्रीय परम्परा को बहु आयामी रूप प्रदान करनेवाले यथार्थ में सशक्त कलाकार हुए।

अपभ्रंश साहित्य की परम्परा-प्रसिद्ध परम्परा में महाकवि पुष्पदंत का नाम मुख्य-रूप से सदा उल्लेखनीय है। इसका कारण स्पष्ट है कि कवि की रागात्मक चेतना में जिन भावानुभूतियों की अभिव्यंजना हुई है वे मानवीय संवेदनाओं से सराबोर हैं। संवेदनशीलता के दर्पण में आलोकित कवि की प्रकृति जड़ नहीं, किन्तु सजीव मानवीय व्यापारों में अन्वित निर्भर रस-स्रोत की भाँति प्रस्रवणशील लक्षित होती है। महाकाव्य के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ गुणावत्ता नहीं है, वहाँ जड़ता है। जड़ता से प्रकृति, वन भले हैं, शरण लेने योग्य हैं। कहा है—“जो चामरों की पवन से गुणों को उड़ा देती है, अभिषेक के जल से सज्जनता को धो देती है, जो अविवेकशील है, दर्प से उद्धत है, मोह से अन्धी और अन्य का हनन करनेवाली है, जो सप्तांग राज्य के भार से भारी है तथा पुत्र और पिता के साथ रमणरूपी रस में समान रूप से आसक्त है, जिसका जन्म कालकूट विष के साथ हुआ है, जो जड़ों में अनुरक्त है और विद्वानों से विरक्त है, ऐसी लक्ष्मी के

होने से क्या लाभ है ? सम्पत्ति मिलते ही मनुष्य सब प्रकार से नीरस हो जाता है। यहाँ तक कि वह गुणवानों से भी द्वेष करने लग जाता है। इसलिए हमारे लिए वन ही शरण है” (महापुराण 1. 4. 1-6)।

कवि ने मनुष्य की रागात्मक वृत्ति तथा प्राकृतिक रागमूलक चेतना का अच्छा परिचय दिया है। कवि के लिए गंगा नदी एक सामान्य सरिता न होकर अनुपम भेंट प्रदान करनेवाली पर्वतेश्वरी देवी है। वह अलंकार की सभी वस्तुएं सेना को भेंट में देती है (म० पुराण 15. 11. 1-10)।

इस वर्णन में महाकवि ने जहाँ गंगा की उदात्तता का परिचय दिया है, वहीं राजा के प्रताप तथा यश को भी सूचित किया है। प्रकृति के अंचल के मध्य पहुँचने पर वह महामानव का कैसे सम्मान करती है, कवि की प्रतिभा उसका कुशलता से वर्णन करती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति का आलम्बन प्रकृति है। अतः मनुष्य की मानसिक स्थिति, परिवेश और संयोग सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए भी काव्य में प्रकृति-वर्णन किया जाता है। महाकवि पुष्पदंत ने विभिन्न स्थलों पर अपने काव्यों में मनुष्य के क्रिया-कलापों की तुलना प्रकृति से की है। ऐसा ही एक “महापुराण” का प्रसंग है। सीता का अपहरण करने की अभिलाषा से रावण मारीचि के साथ पुष्पक विमान में बैठकर वाराणसी आया। वहाँ पर रावण ने वन में एक और प्रकृति के जीवन को देखा और दूसरी ओर सीता के यौवन को देखा। कवि के शब्दों में :-

वणु दीसइ एण्चिबशीलगलु सीयहि जोव्वणु मरुमीणमलु ।  
 वणु दीसइ सिम्मलभरियसरु, सीयहि जोव्वणु सिरु महरसरु ।  
 वणु दीसइ संचरंत कमसु, सीयहि जोव्वणु वरमुहकमसु ।  
 वणु दीसइ सल्लिययाहरउ, सीयहि जोव्वणु बिबाहरउ ।  
 वणु दीसइ कालालिमियउ, सीयहि जोव्वणु सालिमियउ ।  
 वणु दीसइ अलयसिलयसहिउ, सीयहि जोव्वणु बिहलीसहिउ ।  
 वणु दीसइ फुल्लासोयतरु, सीयहि जोव्वणु परसोयतरु ।  
 वणु दीसइ दुग्गउ कंचुइहि, सीयहि जोव्वणु घरकंचुइहि ।  
 वणु दीसइ तरुकीलंतकइ, सीयहि, जोव्वणु वण्णंति कइ ।  
 वणु दीसइ मूलणिरुद्धरसु, सीयहि जोव्वणु कयमयणरसु ।  
 वणु दीसइ वड्डियधवलवल्लि सीयहि हारावल्लि धवलवल्लि ।  
 हियउल्लेउ कामसरहि भरिउ लंकालंकारे संभरिउ ।

अर्थात् नृत्य करता हुआ नीलकण्ठ मयूर लक्षित हो रहा है। सीता का यौवन भी मानव के मनरूपी मीनों को आकर्षित करने के लिए बंसी के समान है। यदि वन निर्मल भरपूर सरोवरों से युक्त है, तो सीता का यौवन भी अत्यन्त मधुर नाद से संयुक्त है। वन में धीरे-धीरे हिलते हुए कमल परिलक्षित हो रहे हैं। सीता का यौवन भी श्रेष्ठ मुख-कमल है। वन में यदि ललित लता-गह्वर शोभायमान हैं तो सीता का यौवन भी बिम्बाधर के समान है।



यदि वन भ्रमरों से आर्लिगित है, तो सीता का यौवन सुख से आर्लिगित है। वन यदि अलक-तिलक वृक्षों से युक्त है, तो सीता का यौवन अपने बलभद्र पति से संयुक्त है। वन में अशोक वृक्ष विकसित लक्षित हो रहे हैं। सीता का यौवन अपने लिए सुखदायी, पर अन्य के लिए खेद-जनक है। यदि वन सर्पों से दुर्गम परिलक्षित होता है, तो सीता का यौवन भी अन्तःपुर की प्रतिहारियों से संरक्षित व दुर्गम है।

महाकवि पुष्पदंत के “महापुराण”, “जसहरचरिउ” तथा “णायकुमारचरिउ” इन काव्यों में प्रकृति का वर्णन भाव-आलम्बन से भरित परिलक्षित होता है। कवि जब मनःस्थिति विशेष की पृष्ठभूमि के रूप में अथवा मनोभाव से निरपेक्ष होकर पात्रविशेष की मनःस्थिति को अभिव्यंजित करता है, तब प्रकृति भाव-आलम्बन के रूप में अभिव्यक्त होती है। संस्कृत के काव्यों में इस प्रकार का प्रकृति का भाव-आलम्बन रूप कम है और जो चित्र हैं उनमें प्रकृति अनुकूल स्थिति में ही है - वह कभी पात्र का स्वागत करती जान पड़ती है और कभी छिपे हुए उल्लास की भावना व्यंजित करती है। कालिदास ने “रघुवंश” में और भारवि ने “किराताजुनीय” में कुछ ऐसे प्रकृति के रूप दिये हैं।<sup>1</sup> किन्तु अपभ्रंश के काव्यों में जहाँ प्रकृति अनुकूल स्थिति में नहीं है, वहाँ भी कवियों ने सफल विम्बों के अंकन किये हैं। महाकवि पुष्पदंत के काव्यों में प्रकृति के सभी प्रकार के रूप चित्रित लक्षित होते हैं। जिस समय रावण माया से राम का रूप धारण कर मृग-शावक को लेकर सीता के पास पहुँचता है, तब सीता उस छौने को कैसे देखती है? मानो असह्य दुःख का संबन्ध हो, शरीर की विस्फुरित किरणमाला से युक्त विरह की बिस्तीर्ण ज्वाला-वाला हो (महापुराण 72. 5. 10-11)।

यथार्थ में सीता देवी को अंभीष्ट वस्तु मिलने पर प्रसन्नता होनी चाहिये थी, किन्तु कवि ने प्रतिभा की कुशलता से वियोग का आभास नाटकीय रूप में पूर्व में ही संकेतित कर दिया। इतना ही नहीं, माया-पुरुष को नहीं जाननेवाली सीता से रावण कहता है - हे प्रिये ! वृद्ध सूर्य भी अस्तंगत हुआ रक्त दिखलाई पड़ता है। कहिये, तीनों लोकों में कौन ऐसा है जो वृद्धता से जर्जर होने पर भी अर्थ में आसक्त नहीं होता।

इन प्रकृति के संकेतपूर्ण प्रसंगों में कवि ने अपनी प्रतिभा का अच्छा चमत्कार प्रकट किया है। प्रकृति को भावगत आलम्बन बनाने के लिए महाकवि को किसी प्रसंग विशेष को नहीं देखना पड़ता है। केवल हर्ष-विषाद में ही वह प्रकृति को भावालम्बन के रूप में चित्रित नहीं करता, किन्तु प्रकृति को आलम्बन बनाकर आक्रोश भी प्रकट करता है। सत्ता-पुरुष के द्वारा शीलवती नारी की अवमानना होने पर कवि के भावों का आक्रोश प्रकृति के विभिन्न कार्य-कलापों के माध्यम से अभिव्यंजित हो उठता है। जिस समय रावण सती सीता का स्पर्श करने के लिए उसके पास पहुँचता है, तभी कवि की बाली में तीखापन आ जाता है। वह तीखे स्वरों में भर्त्सना करता हुआ आक्रोश प्रगट करता है - इतने में परस्त्री का लोभी दुष्ट रावण वहाँ जा पहुँचता है। क्या गाँव के कुत्ते को कहीं भी लज्जा आती है? हे रावण ! (रुलानेवाला) तू दूसरे की युवती को क्यों लाया? मानो यह कहता हुआ लाल कोपलों से वृक्ष रो रहा है। वन मानो अपनी शाखाओं

(मुजाओं) को उठाकर अबमानना व्यंजित करता है कि नारी-रत्न का मरण हो रहा है। कानों के पास आकर भौरा गुनगुना रहा है, मानो कह रहा है कि स्वामिन्! यह कार्य अयुक्त है, अयोग्य है। रावण परस्त्री के रमण-सुख का अभिलाषी है। (यह जान कर) शुक टेढ़ा मुँह करके चला जाता है, मानो वह भी राजा पर प्रकुपित है, उद्विग्न है। कोयल तो विलाप करती हुई वहाँ जा पहुँची (और बोली) - यदि तुम अपनी अपकीर्ति चाहते हो तो पूज्य वंदेही से रमण करने का साहस करना। हंसावली यह कहती है कि आपकी कीर्ति हमारे समान श्वेत तथा लोकप्रिय है, इसलिए इसे मैला मत करो और न लंकापुरी की लक्ष्मी का नाश करो। उस समय लाल-लाल पल्लवोंवाला सुन्दर आम्र-वृक्ष ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह राजा के अन्याय की अग्नि में जल गया हो। चन्दन वृक्ष लिपटे हुए विषधरों को दिखला रहा है, मानो प्रतिपक्ष के मान को स्थापित कर रहा हो (महापुराण 72. 8. 1-11)।

महापुराण महाकाव्य क्या है, मानो प्रकृति का आंगन है। इसमें संचरणशील पात्र सभी प्रकृति के परिवार के हैं। इसलिए पात्र तथा प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रियाएं अभिन्न-रूप से अंकित लक्षित होती हैं। लंका में सीतादेवी के पूछने पर विद्याधरी उत्तर में कहती है - जिसका कोतवाल यम कहा जाता है, प्रतिदिन कुबेर जिसे घन देता है, युद्ध में इन्द्र भी जिससे थर-थर कांपता है, पवन जिसके घर का कचरा निकालता है, अग्नि जिसके वस्त्र धोती है, जिसका नाम लेते ही दिग्गज-वृन्द मद छोड़ने लगता है, सरस्वती जिसके आगे नृत्य करती है, वनस्पतियाँ जहाँ कुसुमांजलि प्रक्षिप्त करती हैं, मेघ जिसके आंगन में छिड़काव करता है, विश्व में जिसका प्रतियोद्धा अन्य कोई नहीं है वह इस लंका का स्वामी है। त्रिभुवन का विजेता उसका नाम रावण है। (महापुराण 72. 10. 4-9)।

अनेक मार्मिक प्रसंगों की संयोजना से उक्त महाकाव्य भरपूर है। जिस समय राम को सीतादेवी के अपहरण का पता चलता है, उस समय का दृश्य अत्यन्त करुण है। महाकवि पुष्पदंत ने "महापुराण" की तिहत्तरवीं संधि का आरम्भ ही सूर्यास्त से किया है। सम्पूर्ण संधि प्रकृति की रंगशाला ही प्रतीत होती है। यथार्थ में मानवीय संवेदनाओं के कुशल चित्रकार बिम्ब-विधान में अनुपम, प्रतीक-संयोजना में सफल, प्रकृति की पृष्ठभूमि में मानवीय चेतना का सजीव वर्णन करने में रससिद्ध कवि तथा प्रकृति की सूक्ष्मसंवेदनाओं को मानवीय धरातल पर अंकित करनेवाले विविध रंगों की चित्रशाला में सौन्दर्य का सफल अंकन भावालम्बन के रूप में अभिव्यंजित करनेवाले महाकवि पुष्पदंत उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्य देशी भाषा का सेतु निर्माण कर शास्त्रीय परम्परा को बहुआयामी रूप प्रदान करनेवाले कलाकार हुए।

काव्य-जगत् में वासना तथा सवेगों की परम्परा में शब्द-चित्रों की संयोजना आवश्यक मानी जाती है। कुछ समीक्षक भाव तथा चिन्तन को एक जटिल रूपयोजना मानते हैं। बिम्ब के निर्माण में इसी प्रक्रिया की अन्विति मानी जाती है। क्योंकि बिम्ब का स्वरूप गठन करनेवाले मूल तत्त्व हैं - (1) अनुभूति, (2) भाव, (3) आवेग और (4) ऐन्द्रियता।

यथार्थ में बिम्ब मानस-प्रत्यक्ष शब्द-चित्र होता है। आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार “बिम्ब एक दृश्यचित्र, संवेदना की एक अनुकृति, एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा दो भिन्न अनुभूतियों के तनाव से बनी एक भावस्थिति—कुछ भी हो सकता है।”

यह निश्चित है कि बिम्ब प्रकृति से ही संश्लिष्ट होता है। प्रतीक तो मूर्त और अमूर्त दोनों तरह के हो सकते हैं, किन्तु बिम्ब मूर्त ही होता है। बिम्ब की प्रेषणीयता सन्दर्भ से जुड़ी रहती है। बिना किसी सन्दर्भ के वह अंकित नहीं होता। किन्तु अलंकार के लिए सन्दर्भ आवश्यक नहीं होता। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा में यह स्पष्ट है कि काव्यात्मक बिम्ब में बिम्ब और रूपक का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में किया जाता है।<sup>2</sup> प्रतीक चरित्रों की योजना मुख्य रूप से रूपक काव्यों में लक्षित होती है। जैन साहित्य में “मदनपराजय” एक सफल रूपक काव्य है। वास्तव में बिम्ब का सम्बन्ध काव्यगत सन्दर्भ और रूपविधान दोनों से है। बिम्ब के माध्यम से ही हमारी संवेदना ऐन्द्रिय ज्ञान को संचेतना प्रदान करती है। अर्थालंकार के सादृश्यमूलक तथा विरोधमूलक दोनों वर्गों को बिम्ब का निर्माण क्षेत्र माना गया है। यदि हम अलंकारों के बाह्य सादृश्य को छोड़कर आन्तरिक प्रवाहसाम्य को लक्ष में लें तो वह बिम्ब रचना के अधिक निकट होगा। लेविस ने ठीक ही कहा है—“कवि का बिम्ब-विधान न्यूनाधिक रूप में एक ऐन्द्रिय शब्दचित्र है। यह एक सीमा तक रूपात्मक (सादृश्य विधायक) होने के साथ सन्दर्भगत मानवीय संवेग से व्यापृत होता है।” किन्तु पाठकों के लिए विशेष रूप से भाव या आवेग से संयुक्त अनुभूतिगम्य होता है।<sup>3</sup> अतः अलंकार (बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव) जैसा होने पर भी बिम्ब उससे भिन्न है। यथार्थ में प्राचीन तथा नवीन कवियों की दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है। डा० केदारनाथ सिंह के शब्दों में—“औपम्य-विधान के क्षेत्र में भी उनकी दृष्टि प्रायः बहिर्मुखी ही रही। इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उस काल की दृष्टि वस्तुओं के आन्तरिक प्रभावसाम्य की ओर न जा सकी। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी कवियों की दृष्टि वस्तुओं के बाह्य आकार से मुड़कर प्रकृति और मानव के सूक्ष्म सम्बन्धों पर टिक गयी। परिणामतः अप्रस्तुत विधान के क्षेत्र में “मानवीकरण” और “अन्योक्ति पद्धति” का विकास हुआ। इस विकास को हम मध्यकालीन अलंकार-विधान से आधुनिक बिम्ब-विधान का प्रथम ऐतिहासिक अन्तर मान सकते हैं।<sup>4</sup>”

डा० सिंह का उक्त कथन हिन्दी की मध्यकालीन कविता के सम्बन्ध में सच हो सकता है, किन्तु अपभ्रंश-काव्य के सम्बन्ध में यह सत्य नहीं है। यद्यपि अपभ्रंश के काव्यों में भी शास्त्रीयता (क्लैसिकल) का पालन तथा सामन्तयुगीन प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से चित्रण किया गया है, किन्तु महाकवि स्वयंभू, पुष्पदंत, वीर, धनपाल आदि कवियों के काव्य में संस्कृत के महाकवि कालिदास की भाँति उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के संयोजन से आकलित ऊहा (फैन्सी) के माध्यम से बिम्ब-विधान किया गया है। डा० सिंह का यह कथन उपयुक्त है कि उपमा सबसे अधिक स्वतः स्फूर्त अलंकार है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्मृति और उपचेतन से होता है।<sup>5</sup> अतः बिम्ब में नवीनता का अन्वेषण उपमा की विश्लेषणात्मक प्रकृति में भली-भाँति लक्षित होता है। महाकवि

स्वयंभू “पउमचरिउ” में लंका नगरी का वर्णन करते हुए कहते हैं—“उस पर्वत शिखर की पीठ पर लंका नगरी ऐसी शोभायमान थी जैसे महान् गज की पीठ पर नई दुलहिन ही सज-धज कर बैठी हो।”

प्रथम बार लंका नगरी को देख कर सीतादेवी के उपचेतन मन में जो बिम्ब उभरा वह कितना सार्थक है कि रनिवास में जिस तरह सज-धज कर नई दुलहिन बैठी हो, उसी तरह भली-भाँति श्रृंगारित लंका नगरी भी शोभायमान हो रही थी। दोनों में सहज स्वाभाविक साम्य है। इसी प्रकार राम की निन्दा सुन कर हनुमान् दावाग्नि के समान प्रदीप्त हो उठते हैं। यही नहीं, नन्दन वन के विध्वंस हो जाने पर उच्छिन्न वृक्षों की भूमि उसी प्रकार अवशिष्ट रहती है, जिस प्रकार नकटी वेश्या। इस तरह के अनेकों बिम्ब “पउमचरिउ” में भरे हुए हैं।

महाकवि पुष्पदंत बिम्बों के विशिष्ट विधायक हैं। बिम्बों की मूल संचेतना उनके काव्यों में अभिव्यंजित-परिलक्षित होती है। बिम्ब काव्य की जीवन्त चेतना के प्रतीक हैं। संवेदना उसकी प्राणशक्ति है। इसलिए बिम्ब को संवेदनों का शब्दांकित चित्र माना गया है। यदि लेविस बिम्ब विधान को कविता के जीवन्त विकास का अविच्छेद्य अंग मानते हैं, तो रिचर्ड्स बिम्ब का महत्त्व इसलिए मानते हैं कि वह संवेदना का ही प्रस्तुत अवशेष होता है। उसमें कवि की अनुभूति की सूक्ष्मता, सान्द्रता, तीव्रता तथा व्यापकता को विभिन्न उपमानों के द्वारा संवेदनशील शब्द-चित्र के रूप में चित्रित किया जाता है। लंका नगरी में सीतादेवी को जो वस्त्र पहनने के लिए दिये गये, उनका बिम्ब प्रस्तुत करता हुआ कवि वर्णन करता है—

सूक्ष्म, उत्तम, चन्द्रमा की भाँति श्वेत, रामचन्द्र की कीर्ति की भाँति लम्बे, विपुल और शुभ्रतर वसन-परिधान सीतादेवी के लिए दिये गये (महापुराण 73, 28, 13-14)।

महाकवि ने अपनी रचनाओं में अनेक नये उपमानों तथा बिम्बों का प्रयोग कर अपभ्रंश साहित्य को आधुनिक कविता के तुल्य बहुत पहले ही गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था। उनके कुछ उपमान हैं—पर्वत के लिए गेंद, समुद्र के लिए गोपद, पवित्रता के लिए धर्म, सम्पत्ति के लिए समता, पावस के लिए राजा, गज के लिए मेघ, काले मुख के लिए गभिराणी के उरोज, नन्दनवन के लिए लक्ष्मी का यौवन, लाल नेत्रों के लिए गुंजाफल, शत्रु योद्धाओं के लिए ताड़वृक्ष के फल, सेना के लिए नई कृपाण, बाणों के समूह के आवरण के लिए नववधू, राम के लिए नन्दनवन, महान् के लिए सुमेरु पर्वत, श्याम के लिए भ्रमर, उज्ज्वल के लिए विद्युत्, श्यामल के लिए नीलकमलदल, कोमल के लिए अभिनव लता, गुण के लिए सोपान, संसार के लिए वन, लाल नख के लिए पद्म-रागमणि, धवल के लिए चन्द्रमा, स्वर के लिए डिंडिम, कान्ति के लिए तुहिनतार-मुक्ताफल, अचल मुनिबर के लिए सुमेरु पर्वत, अत्यन्त उच्च के लिए गिरि, तेज के लिए दिवाकर, चंचल के लिए आहत तृण-जलकण, कुटिल भाव के लिए दासी, नयन के लिए नवनलिन, हाथ के लिए ऐरावत की सूँड, सारस युगल के लिए कान्ता के स्तनरूपी कलशयुगल, गंगा की तरंग के लिए त्रिवलि-तरंग, विकसित कमल के लिए कान्ता का मुखकमल, आकाश के लिए प्रांगण, गौर वर्ण के लिए चम्पक पुष्प, उज्ज्वल दांतों के लिए चुही के पुष्प, मुजा के

लिए कमल, रूप के लिए विद्युत्, मुख के लिए रक्तकमल, तोरण के लिए इन्द्रधनुष, काले रंग के लिए नीलकण्ठ-तमाल, श्याम वर्ण के लिए अंजन, आंसू के लिए भ्रूस, कामिनी के लिए लता, स्वच्छ शरीर के लिए हिमकरा का हार, नायक के लिए शुक, वसंत के लिए सिंह, हार के लिए जल-करा, रमणी के लिए बिजली, कर के लिए कमल, कीर्ति के लिए लता कुसुम, वन के लिए अशोक वृक्ष, विमान के लिए शिबिका (पालकी), शीतलता के लिए हिम, कान्ति के लिए हिमतार, मोती, चन्द्र आदि उपमानों का प्रयोग किया गया है।

महाकवि की कल्पना-शक्ति अत्यन्त उर्वर है। कल्पना के चमत्कारपूर्ण प्रयोगों से उन्होंने बहुविध उत्प्रेक्षाओं में वस्तुगत भावों को स्पर्श करने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रकार वर्णनों में न तो उक्ति वैचित्र्य और न ही विलम्ब कल्पनाओं का आश्रय लिया गया है, वरन् आलंकारिक शैली में स्वाभाविक चित्रों की उद्भावना में अपनी "नव-नवोन्मेष" प्रतिभा का सुन्दर प्रदर्शन किया गया है। महाकवि कालिदास की कलात्मक स्वभाविक चित्रमयता की भांति कहीं-कहीं व्यञ्जनात्मक सुन्दर प्रयोग किये हैं। प्रकृति की रंगीन चित्रशाला को प्रकृति के ही सुन्दर बिम्ब-विधानों के द्वारा सादृश्य के आघार पर प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं। किन्तु कहीं-कहीं वस्तु तथा भाव को चित्रमय बनाने के लिए "सेतुबन्ध" की भांति अलंकारों का कलात्मक प्रयोग भी किया गया है। उदाहरण के लिए सम्राट् भरत ने सिन्धु सरिता का अवलोकन इस प्रकार किया — जैसे विलास को धारण करने वाली सुन्दर वारांगना हो, मद का प्रदर्शन करनेवाली मानो हस्ति-घटा हो, विबुधों (देवों, पण्डितों) के आश्रित होते हुए भी जिसने जड़ (मूर्ख, जल) का संग्रह किया है, जो वन की अग्नि (दावाग्नि) के समान है, जिसकी जड़ता (अचेतनता, जल) घुल गई है वह युद्ध-वृत्ति (खड्ग, मत्स्य) से सुशोभित है। वृहस्पति की मति की भांति जो तीव्र बुद्धिवाला कुटिल है और मानो निर्वाण की भांति मल विनाशक है। जो घनुर्यष्टि के समान मुक्तसर (मुक्त बाण, मुक्त तीर) है और जिसमें वसुधा की भांति अनेक राजहंस शोभा को धारण करते हैं। जो कमल की भांति कोष-लक्ष्मी को धारण करती है, राजा की शक्ति का अनुसरण करती है जो चंचल सारसरूपी पयोधरों को धारण करनेवाली शुकों के पंखों की हरित पंक्ति से हरे-भरे हैं, क्रीड़ा करते हुए श्वेत बगुलों से शोभायमान तथा खिरती हुई कुसुम-पराग से पीले हैं मानो रंगीन श्रेष्ठ उत्तरीय धारण किया हो अथवा शृंगार के कारण जो रंग-बिरंगी हैं। गज, अश्व एवं चन्दन रस से मिश्रित तथा मयूर के पंखों के समान केश वाली सरिता रूपी नायिका उसी प्रकार परस्पर मिल जाती है, जिस प्रकार कोई चतुर मुग्धा अनुरक्त नागर जन से मिल जाती है। सिन्धु-सरिता के पट पर राजा ने डेरा ही डाला था कि इतने में दिनकर अस्ताचलगामी हो गया। मानो पश्चिम दिशा रूपी कामिनी में आसक्त (अनुरक्त) मित्र (सूर्य) ही फिसल पड़ा हो (महापुराण 13-7. 1-10)।

इसी प्रकार भरत और बाहुबली को युद्ध के लिए उद्यत देखकर कहा गया है — आप दोनों धरती रूपी महिला के बाहु-दण्ड हैं। आप दोनों राज्य के न्याय में कुशल हैं, अपने पिता के पाद-पत्र रूपी कमलों के भ्रमर हैं, आप दोनों ही जनता के नेत्र हैं।

इसी प्रकार किसी विलासी नायक के रूप में वर्णित वसन्त का वर्णन चित्रमाला के रूप में प्रस्तुत किया गया है। देखिये, क्या सुन्दर चित्र है —

जग में प्रवेश करता हुआ वसन्त शोभायमान हो रहा है। अभिनव सहकार (आम्र) वृक्षों से महकता हुआ, मधुशाला की भांति मधु-धाराओं में प्रवाहित होता हुआ, हेमन्त की प्रभुता को निर्जित करता हुआ, अपनी पहचान के संकेतों को दसों दिशाओं में भेजता हुआ, नवांकुरों से भासमान होता हुआ, पल्लवों से हिलता हुआ, वापिकाओं के जलरूपी चीर को हटाता हुआ, उनके नीचे शैवालों के किनारे दिखाता हुआ, दिनकर के तीव्र किरण-प्रताप को तथा दिन की दीर्घता को प्रकट करता हुआ, अशोक के पल्लवों की वृद्धि करता हुआ, द्रुष्ट फागुन से अशोक वृक्ष की मुक्ति की सिद्धि को प्रकाशित करता हुआ, मौलश्री की सर्वांग शोभा को वृद्धिगत करता हुआ, वन-लक्ष्मी के ओसरूपी आंसुओं को पोंछता हुआ, तिलक वृक्षों के पत्तों को तिलक की शोभा देता हुआ, लतारूपी कामिनियों में रस उत्पन्न करता हुआ, प्रियों के कामुक मनो को आहत करता हुआ, कनेर के कुसुम-पराग को घूसरित करता हुआ, मानिनियों के मानरूपी पर्वतों को जर्जर करता हुआ, भ्रमराशील भ्रमरावलि से गुन-गुन करता हुआ, उत्तमांगों से सहित वृक्षों पर दिन व्यतीत करता हुआ, मन्दार-प्रसूनो की पराग से महकता हुआ एवं रमण की अभिलाषा के विलास को उत्पन्न करता हुआ वसन्त आ पहुँचा (महापुराण 70. 14. 1-11) ।

इस प्रकार अलंकार सादृश्य और विभिन्न उपमानों के साहचर्य से रमणीय भावों की अभिव्यक्ति अपभ्रंश के महाकवियों की शैली विशेष रही है। प्रकृति के इन विभिन्न उपमानों की संयोजनाओं के द्वारा भावों की अभिव्यंजना की जाती है जो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत निरूपित की जाती है। यथार्थ में महाकवियों की सृष्टि ही अभिव्यंजना की है। इसमें प्रकृति का प्रयोग कहीं मानवीकरण के रूप में होता है तो कहीं रूपों को ही भावात्मक बनाने के लिए सहज-स्वाभाविक या चमत्कारपूर्ण संवेदनशीलता परिलक्षित होती है।

काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा के सन्दर्भ में डा० रघुवंश का यह कथन यथार्थ है—अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत साहित्य के आदर्श का पालन तो मिलता है, पर एक सीमा तक। इसमें स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है। यह भावना जन-जीवन के सम्पर्क को लेकर है।<sup>6</sup> जैन कवियों में धार्मिक चेतना अधिक है और राज्याश्रित कवियों के सामने संस्कृत तथा प्राकृत के आदर्श अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके उपरान्त भी अपभ्रंश का कवि जन-जीवन से अधिक परिचित है और अपने साहित्य में अधिक उन्मुक्त वातावरण तथा स्वच्छन्द भावना का परिचय देता है। हम देखेंगे कि इसी स्वच्छन्द भावना को हिन्दी साहित्य के मध्य-युग ने और भी उन्मुक्त रूप से अपनाने का प्रयास किया है।<sup>7</sup>

1. रघुवंश : प्रकृति और काव्य, द्वितीय संस्करण, 1960, पृ० 103
2. लेविस, सी०डे० : द पोयटिक इमेज, पृष्ठ 17
3. लेविस, सी०डे० : द पोयटिक इमेज, जोनाथन केप पेपरबैक, लंदन पृष्ठ 22
4. सिंह, डा० केदारनाथ : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान, ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ 39
5. वही, पृष्ठ 39
6. रघुवंश : प्रकृति और काव्य, द्वितीय संस्करण, दिल्ली। 1960, पृष्ठ 107
7. वही, पृष्ठ 109

# महाकवि पुष्पदंत और उनका काव्य

— डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'



भारतीय आर्य भाषाओं के विकासक्रम का अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने संस्कृत के साथ-साथ जन-भाषा के रूप में "प्राकृत" के अस्तित्व एवं प्रचलन को स्वीकार किया है। ईसा पूर्व 500 से लेकर 1000 ईसवी तक प्राकृत भाषाओं को साहित्य रचना-का आधार माना गया है। आरंभ में विद्वानों ने स्पष्ट विभाजक बिन्दुओं के अभाव में यद्यपि प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्राकृत के रूप में प्राकृतों का विभाजन किया, तथापि बाद में इन्हें निश्चित नाम दे दिये गये और प्राकृतों को क्रमशः पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश कहा गया। प्राकृत भाषाओं के अध्येताओं ने कालान्तर में ईसवी सन् के आरंभ के पश्चात् प्राकृत भाषा में परिवर्तन देखना आरंभ किया और 5वीं शती से अपभ्रंश साहित्य का समारंभ स्वीकार किया। निश्चित प्रमाणों के अभाव में अपभ्रंश भाषा की रचनाओं में विद्वानों ने महाकवि स्वयंभूदेव की महाकाव्य कृति "पञ्चमचरिड" को अपभ्रंश की आदि रचना माना है। यद्यपि महाकवि स्वयंभूदेव ने "चतुर्मुख" जैसे कवियों का उल्लेख किया है, किन्तु इन कवियों की रचनाएं अद्यावधि न मिल पाने के कारण स्वयंभूदेव को ही "अपभ्रंश का आदिकवि" स्वीकार किया जाता है।

अपभ्रंश की प्रबंध-काव्यधारा में महाकवि स्वयंभूदेव के पश्चात् जिस महाकवि को सर्वाधिक गौरव एवं प्रसिद्धि मिली है वे हैं महाकवि पुष्पदंत। यशस्वी महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित "महापुराण" अपभ्रंश की ऐसी विशिष्ट कृति है जिसमें जैनधर्म, जैन-दर्शन, जैन-संस्कृति, समाज एवं कला का सजीव चित्रण तो हुआ ही है साथ ही हिन्दूधर्म में बहुमान्य "राम" एवं "कृष्ण" की कथाओं का भी विशद चित्रण हुआ है। महाकवि

पुष्पदन्त की यह कृति साहित्य की बेजोड़ रचना के रूप में भी परवर्ती रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य-धारा के कवियों को व्यापक रूप में प्रभावित करती रही है।

### महाकवि पुष्पदंत : सामान्य परिचय

इतिहास का अभिन्न अंग बन जानेवाले अनेक विश्रुत अपभ्रंश कवि ऐसे हैं जिनके व्यक्तित्व का आकलन शोधकर्ता विद्वान् वर्षों से करने का प्रयास करते आ रहे हैं, किन्तु अन्तःसाक्ष्यों के अभाव में तथा अपूर्ण बहिःसाक्ष्यों के प्रकाश में इन कवियों के व्यक्तित्व का प्रामाणिक आकलन नहीं हो सका है। ऐसे कवियों में स्वयंभूदेव के पश्चात् प्रमुख हैं महाकवि पुष्पदंत।

“महापुराणकार” महाकवि पुष्पदंत ने यत्र-तत्र जो उल्लेख किये हैं उनसे जो सूत्र हाथ लग सके हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि कवि पुष्पदंत मूलतः “काश्यप गोत्रीय” ब्राह्मण थे और शैव-मतावलम्बी रहे और बाद में जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण की। कवि के पिता का नाम केशवभट्ट तथा माता का नाम मुग्धा देवी मिलता है। राणयकुमारचरित (1.2) की प्रशस्ति में कवि पुष्पदंत ने अपने जन्मदाता माता-पिता की कल्याण-कामना की है। पुष्पदंत के नाम से एक “शिवमहिम्नःस्तोत्र” मिलता है, जिसे कवि की शैशवावस्था एवं जैनधर्म में दीक्षित होने से पूर्व की रचना होना स्वीकार किया जाता है। इस “स्तोत्र” में शैवमत को माननेवाले किसी “भैरव नरेन्द्र” नामक राजा की प्रशंसा है। जैन-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी ने “शिवमहिम्नःस्तोत्र” के रचनाकार पुष्पदंत एवं “महापुराण” के रचयिता पुष्पदंत को भिन्न माना है।<sup>1</sup>

आचार्यप्रवर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक “हिन्दी का आदिकाल” में हिन्दी के “पुष्पभाट” कवि को ही “महापुराणकार” पुष्पदंत कहा है, लेकिन यह असंगत ही है चूँकि पुष्पभाट मात्र दोहाकार था और उसका समय पुष्पदंत से बहुत बाद का है, अतः आचार्य द्विवेदी का कथन निर्मूल सिद्ध होता है।

कवि ने कहीं भी अपने जन्म तथा स्थान के विषय में कोई सूचना नहीं दी, अतः अन्य स्रोतों से जानकारी ली गई है। प्रेमीजी पुष्पदंत को मूलतः “दक्षिण” का नहीं मानते जिसका आधार वे कवि की भाषा स्वीकार करते हैं—“पुष्पदंत मूल में कहाँ के रहने वाले थे, उनकी रचनाओं में इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उनकी भाषा बतलाती है कि वे कर्नाटक या उससे और दक्षिण के द्रविड़ प्रान्तों के तो नहीं थे। क्योंकि एक तो उनकी सारी रचनाओं में कन्नड़ी और द्रविड़ भाषाओं के शब्दों का अभाव है, दूसरे अब तक अपभ्रंश भाषा का ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिला है जो कर्नाटक या उसके नीचे के किसी प्रदेश का बना हुआ हो। अपभ्रंश साहित्य की रचना प्रायः गुजरात, मालवा, बरार और उत्तर भारत में ही होती रही है। अतएव अधिक संभव यही है कि वे इसी ओर के हों।”<sup>2</sup> फिलहाल, प्रेमीजी के मत को अन्तिम नहीं कहा जा सकता। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का कथन है—“मुझे उसमें (बरार का निवासी मानने में) कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इसके लिए अभी और ठोस प्रमाण की जरूरत है। क्योंकि अपभ्रंश व्यापक काव्य-भाषा थी, अतः किसी भी प्रान्त का व्यक्ति उसमें रचना कर सकता था।”<sup>3</sup> डॉ० वैद्य ने



“महापुराण” में “बोड्ड तथा डोड्ड” जैसे कुछ कन्नड़ शब्द खोजकर पुष्पदंत को कर्नाटक का कहा है, लेकिन अभी तक भी कोई बात प्रमाणपुष्ट नहीं है।

महाकवि पुष्पदंत भी स्वयंभूदेव की ही भाँति राष्ट्रकूट राज्य के आश्रयप्राप्त कवि रहे हैं। “महापुराण” के अनेक उल्लेखों से यह सिद्ध है कि पुष्पदंत राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज तृतीय के समकालीन रहे हैं और इन्हीं के अमात्य भरत के आश्रय में रहकर पुष्पदंत ने “महापुराण” की रचना की थी। कवि की अन्य दो कृतियाँ “गायकुमार चरिउ” तथा “जसहरचरिउ” आश्रयदाता अमात्य भरत के सुपुत्र “नन्न” (राणा) के आश्रय में लिखी गईं।<sup>4</sup>

“महापुराण” में कवि पुष्पदंत ने अपने पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख, स्वयंभूदेव, श्रीहर्ष, बाणभट्ट, ईशान, द्रोण, धवल एवं रुद्रट आदि का उल्लेख किया है। (द्रष्टव्य—महापुराण, 1.9, 38.5) इस आधार पर पुष्पदंत का समय रुद्रट के समय 800-850 ईसवी से बाद का ही होना चाहिये।

“महापुराण” के साक्ष्य पर कवि पुष्पदंत के स्वभाव तथा अन्य विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है। उल्लेख है कि कवि का एक नाम “खण्ड” या “खंडु” भी था—

“जो विहिराण रिम्मउ कव्वपिडु, तं गिसुणे वि सो संचलिउ खंडु।”<sup>5</sup>

कवि को मिले हुए विरुद “अभिमानमेरु” (महापुराण 1.3) “अभिमानचिह्न”, “काव्यरत्नाकर”, “कविकुलतिलक” (महापुराण 1.8), “सरस्वतीनिलय” (जसहरचरिउ, 1.8) तथा “कव्वपिसल्ल” आदि निश्चय ही कवि पुष्पदंत की काव्यप्रतिभा एवं लोकप्रियता की व्यापक स्वीकृति के प्रमाण हैं।

निःसन्देह, महाकवि पुष्पदंत स्वाभिमानी, उग्र एवं एकान्तप्रिय रहे होंगे, यही “अभिमानमेरु” से व्यंजित होता है। पुष्पदंत “सरस्वतीनिलय” और “सरस्वतीविलासी” के रूप में युगों तक याद किये जाते रहेंगे। स्वाभिमान छोड़कर झुकना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। “महापुराण” के एक प्रसंग में कवि के शब्द हैं—

“तं सुगिणवि भरणइ अहिमाण मेरु, वर खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु।

एउ दुज्जण भउंहावंकियाइं, दीसंतु कलुस भावं कियाइं।।

वर एणवरु धवलच्छिहे होहु म कुच्छिहे भरउ सो गिणमुहरिणगमे।

खल कुच्छिय पहुवयणइं भिउडियरणणइं म रिणहालउ सुरणमे।।”<sup>6</sup>

अर्थात्—“गिरिकन्दराओं में घास खाकर रहना अच्छा, लेकिन दुर्जनों की टेढ़ी भौंह देखना अच्छा नहीं। माँ की कोख से पैदा होते ही मौत अच्छी, किन्तु किसी राजा की टेढ़ी निगाह देखना और दुर्वचन सहना अच्छा नहीं।” इस उद्धरण से कवि का स्वाभिमानी स्वभाव स्पष्ट हो जाता है।

### महाकवि पुष्पदंत की काव्यकला

अपभ्रंश के “अभिमानमेरु” महाकवि पुष्पदंत की तीन प्रमुख रचनाएँ आज उपलब्ध हैं जिनसे उनकी काव्यकला का सम्यक् विवेचन सम्भव है। उनकी महनीय कृति

है—“महापुराण” जिसके दो भाग हैं—“आदिपुराण” एवं “उत्तरपुराण”। वस्तुतः महाकवि की इस विशिष्ट पुराण कृति का नाम—“तिसट्टि महापुरिस गुणालंकार” है और इसमें जैन-परम्परानुसार “त्रिषष्टि शलाका पुरुषों” अर्थात् 24 तीर्थंकरों, 12 चक्रवर्तियों, 9 वासुदेवों, 9 बलदेवों तथा 9 प्रतिवासुदेवों की कथा का वर्णन किया गया है। डॉ० रामसिंह तोमर का कथन है—“दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में महापुराणों का स्थान बहुत ऊँचा है।”<sup>8</sup> इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पुष्पदन्त प्रणीत “महापुराण” जैन मतावलम्बियों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है।

“महापुराण” के प्रथम भाग “आदिपुराण” में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव तथा प्रथम चक्रवर्ती भरत की कथा 37 संधियों में निबद्ध है, जबकि दूसरे भाग “उत्तरपुराण” में शेष तीर्थंकरों तथा उनके साथ-साथ अन्य महापुरुषों की कथाएँ हैं। “उत्तरपुराण” के अन्तर्गत ही रामकथा “पद्मपुराण” एवं कृष्णकथा “हरिवंशपुराण” सम्मिलित हैं। कुल मिलाकर “आदिपुराण” में 80 तथा “उत्तरपुराण” में 42 संधियाँ हैं जिनका श्लोक-परिमाण लगभग बीस हजार है। स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने इसे महाकाव्य घोषित किया है। उदाहरण के लिए संधियों के अन्त की एक पुष्पिका देखी जा सकती है—

“इय महापुराणे तिसट्टिमहापुरिसगुणालंकारे ।  
महाकइ पुष्पदन्त विरइए महाभव्वभरहाणुमणिए महाकाव्ये ॥”

पौराणिकता प्रधान इस महाकाव्य में यद्यपि कथा की शृंखलाबद्धता नहीं मिल पाती, तथापि जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष की पूर्ण एवं सजीव अभिव्यक्ति कवि ने प्रसंगानुकूल अवस्थ की है। वस्तु-वर्णन, सौन्दर्य-चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि के प्रसंगों में कवि जहाँ कल्पनाशील होकर भावुक चित्र अंकित करता है, वहीं भक्ति और दर्शन के प्रसंगों में उसका गम्भीर चिन्तन-पक्ष उजागर हो उठता है। इस प्रसंग में दो उद्धरण मैं देना चाहूँगा, एक में काव्यत्व है, तो दूसरे में गम्भीर दर्शन—

“महि मयणाहिरइयरेहा इव बहुतरंग जरह्य देहा इव ।”<sup>9</sup>

अर्थात् यमुना पृथ्वी पर मृगनाभि-कस्तूरी-रेख के समान है और उसमें उठती तरंगों वृद्धावस्था की भुर्रियों के समान हैं।

“वियलइ जोव्वणु णं करयलज्जलु, णिवडइ माणुसु णं पिक्कड फलु ।”<sup>10</sup>

अर्थात् अंजलि के जल की भाँति यौवन विगलित होता है और मनुष्य पके हुए फल की तरह निपतित होता है।

महाकवि पुष्पदन्त काव्य का लक्ष्य मूलतः “आत्मतोष” मानते हैं, धनप्राप्ति कदापि उनका लक्ष्य नहीं रहा। यह तथ्य स्वयं कवि ने प्रस्तुत किया है जब वह आश्रयदाता भरत से कहता है—

“मज्झु कइत्तणु जिणपद भत्तिहि, पत्तरइ एउ णिय जीवियवित्तिहि ।”<sup>11</sup>

अर्थात् मेरा काव्यत्व जिनपद-भक्ति के लिए है, धन की प्राप्ति के लिए नहीं।

काव्यत्व की दृष्टि से महाकवि पुष्पदन्त का महत्त्व निःसंदेह अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्य-धारा के कवियों में महाकवि स्वयम्भूदेव से कदापि कम नहीं है, यद्यपि “महापुराण” में कथा की सूत्रबद्धता एवं काव्योत्कर्ष अधिक नहीं आ सकता। इस संदर्भ में डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का कथन उल्लेखनीय है—“यथार्थ में पुराण-काव्य की शैली में कथा के विकास का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि पुराण कहने का। कवि का काम काव्य को पुट देकर उसे संवेदनीय बनाना है। अतः कथा अधिक गतिशील नहीं हो पाती।”<sup>12</sup>

काव्य-कला की दृष्टि से महाकाव्योचित शैली एवं रूढ़ियों का सटीक प्रयोग पुष्पदन्त ने किया है। “महापुराण” में दो प्रकार की रूढ़ियों का प्रयोग हम पाते हैं— (1) काव्यविषयक रूढ़ियाँ तथा (2) पौराणिक अथवा धर्मविषयक रूढ़ियाँ।

काव्यगत रूढ़ियों में प्रायः संस्कृत प्रबंध काव्यों में प्रयुक्त सभी प्रमुख रूढ़ियों का प्रयोग “महापुराण” में है, यथा—“मंगलाचरण”, “ग्रंथ-रचना का लक्ष्य”, “आत्म-लघुता का प्रकाशन”, “सज्जन-स्तुति” एवं “दुर्जन-निन्दा”, “स्तुति-गान”, “आत्म-परिचय” एवं कथा कहने की “श्रोता-वक्ता शैली” आदि।

दूसरी ओर पौराणिक रूढ़ियों को भी महाकवि ने विशेष रूप से स्थान दिया है। इनमें मुख्य ये हैं—सृष्टि-वर्णन, धर्म-निरूपण एवं प्रतिपादन, दार्शनिक खण्डन-मण्डन, लोक-विभाग, अलौकिक वर्णनों की योजना, पूर्वभवों का वर्णन एवं स्वप्न-दर्शन आदि। स्मरणीय है कि पुराणकार के लिए इन काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से करना अनिवार्य माना गया है। एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा जिसमें “आत्म-लघुता का प्रकाशन” दर्शनीय है—

“एउ हउं होमि वियक्खणु एण मुणामि लक्खणु छन्दु वेसि ए वियाणामि ।

जइ विरइय जय बंभेहि आसि मुणिएदहि सा कह केम समाणामि ॥”<sup>13</sup>

इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि “अभिमानमेरु” विरुद्ध धारण करनेवाला महाकवि पुष्पदन्त स्वयं को काव्यत्व से सर्वथा हीन कहता है। अपभ्रंश कवियों में यह परिपाटी विशिष्ट कही जा सकती है। स्वयम्भूदेव कहते हैं—

“बहुयए सयंभु पइं विणएबइ, मइं सरिसउ अणु नहीं कुकइ ।”<sup>14</sup>

महाकवि पुष्पदन्त जैनमत में दीक्षित होकर “जिनभक्ति” में ही जीवन की सार्वभौम सार्थकता मानते हैं, तथापि उनका दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार रहा है। उनकी धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वयवादी उदार दृष्टि का परिचय हमें तब मिलता है जब “महापुराण” में वे सभी देवताओं की श्रद्धाभाव से अभ्यर्थना करते हैं—

“जय संकर संकर विहिय संति जय ससहर कुवलय विष्ण कंति ।  
जय जय गरुस गरुवइ जणेर नय वंभ प्रसाहिय वंभ चेर ॥  
वेयंम वाइ जय कमल जोरिण आई वराह उद्धरिय खोरिण ।  
जय माहव तिहुवरण माहवेस महसूयण वूसिय महु विसेस ॥”<sup>15</sup>

“महापुराण” में अनुश्रुतियाँ और अवान्तर कथाएँ कवि इस प्रकार पिरोता चलता है कि काव्यगत उत्कर्ष एवं प्रभाव में स्वतः अभिवृद्धि हो जाती है ।

रसात्मकता की दृष्टि से महाकवि पुष्पदंत यों तो नवरस-परिपाक में निपुण हैं, फिर भी संयोग शृंगार में वे महाकवि स्वयंभू से भी ऊपर हैं । यहाँ उल्लेखनीय है कि महाकवि पुष्पदंत ने “भक्ति” को रस की कोटि में स्वीकार किया है । करुण, वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों का सुन्दर परिपाक “महापुराण” में हमें मिलता है ।

जहाँ तक अलंकारविधान का प्रश्न है, महाकवि पुष्पदंत का काव्य समृद्ध है । डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का मत है—“स्वयंभू की अपेक्षा पुष्पदंत में श्लिष्ट उपमां की प्रवृत्ति अधिक है ।”<sup>16</sup> महाकवि स्वयंभू की तरह पुष्पदंत भी “जिनपूजा” के प्रसंग में उपमाएँ देते हैं—

“हृत्थिहडा इव घंटा मुहल वर नरवईसेवा इव सहल ।  
वेता इव दरसिय इप्पणीय..... ॥”(महापुराण)

उत्प्रेक्षा-अलंकार महाकवि पुष्पदंत को भी स्वयंभूदेव की भाँति प्रिय है और वे उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देते हैं । राम-सीता विवाह-प्रसंग में कवि की उत्प्रेक्षाएँ दर्शनीय हैं—

“वइदेहि धरिय करि हलहरेण गं विज्जसु धवले जलहरेण ।  
रां तिहुहण सिरी परम्पणण रां रागवित्ति पालिए-पणण ॥”<sup>17</sup>

अनन्वय, उदाहरण, निदर्शना, रूपक, उल्लेख, व्यतिरेक, विरोधाभास आदि प्रमुख अलंकारों का यथास्थान मनोहारी प्रयोग पुष्पदंत ने किया है । यहाँ विरोधाभास का एक अनुपम उदाहरण द्रष्टव्य है—

“सुवतया अवतया रसंकिया वसुञ्जया ।  
सरुवया अरुवया सुगंधया अगंधया ।  
सकारणा अकारणा ससंभया असंभया ॥”<sup>18</sup>

“महापुराण” की आरंभिक स्तुतिपरक संधियों से थमक तथा श्लेष अलंकार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में देखे जा सकते हैं । निःसन्देह, अलंकारविधान की दृष्टि से महाकवि पुष्पदंत वरिष्ठ कवि सिद्ध होते हैं ।

प्रकृति-चित्रण भी काव्यकला के उत्कर्ष की कसौटी रही है अतः इस कसौटी पर भी महाकवि पुष्पदंत को परख लेना समीचीन होगा। अपभ्रंश के प्रबंधकाव्यों में प्रकृति को विशद रूप में चित्रित करने का अवकाश यद्यपि बहुत कम रहा है, फिर भी नये-नये उपमानों के माध्यम से कवियों ने नगर, उपवन, वन, पावस, शरद, बसन्त, ग्रीष्मादि ऋतुओं आदि के जो चित्रण किये हैं, वे प्रकृति के प्रति उनके लगाव को व्यंजित कराते हैं। महाकवि पुष्पदंत द्वारा उद्यान-शोभा का जो मनोरम चित्रण किया गया है, वह यहाँ उल्लेखनीय है -

“वायं दोलण लीला सारो तरुणाहाए हल्लई मो रो ।  
सोहइ धोलिए पिछ सहासो णं वण लच्छि चमर विलासो ॥  
दिण्णं हंसेणं हंसिए चंचु चुंबतीए ।  
फुल्लाभोय वसेण भग्गो केयइ कामिणीयाउ लग्गो ॥”<sup>19</sup>

“महापुराण” में पुष्पदंत जब चन्द्रोदय का वर्णन करते हैं, तो उत्प्रेक्षा की छटा से जैसे दृश्य साकार हो उठता है -

“ता उइउ चंडु सुहइ, विसाइ, सिरि कलसु व षइसारिउ रिणसाई ।  
णं पोमा करथल ल्हसिउ बोमु, णं तिहुयण सिरि लावण्ण धामु ॥  
णं अमय विदुंसंदोह रुंडु, जस वेल्लिहि केरउ नाइ कंडु ।  
मारिणय तारासय वत्त फंसु, णं राहसिरि सुत्तउ रामहंसु ॥”<sup>20</sup>

उद्दीपन रूप में “बसन्तऋतु” का चित्रण (महापुराण) विशेष दर्शनीय है, जो साथ ही प्रकृति-चित्रण के माध्यम से आध्यात्मिक संकेत करने की विशिष्ट कला पुष्पदंत को इस क्षेत्र में अद्वितीय बना देती है।

महाकवि पुष्पदंत की अन्य कृतियाँ हैं - “गायकुमारचरिउ” एवं “जसहरचरिउ”, जो क्रमशः 9 संधियों तथा 4 संधियों में समाप्त होनेवाली खण्डकाव्य कृतियाँ हैं। यद्यपि “गायकुमार-चरिउ” में काव्यात्मकता प्रचुर है और भाषा, छन्द एवं अलंकार का सुष्ठु प्रयोग हुआ है तथापि इस “रोमाण्टिक काव्य” की शैली “महापुराण” जैसी प्रौढ़ नहीं है। यही स्थिति “जसहरचरिउ” की भी है। डॉ० रामसिंह तोमर का मत है - “यशोधर-चरित्र में काव्यात्मकता बहुत ही कम है। जहाँ-तहाँ नगरादि के वर्णनों में थोड़ी बहुत सजीवता मिलती है।”<sup>21</sup>

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर मैं निःसंदेह कह सकता हूँ कि “सरस्वती-निलय” एवं “अभिमान-मेरु” के विरुद्ध से अभिमण्डित महाकवि पुष्पदंत अपभ्रंश-काव्याकाश के दीप्तिमान चन्द्रमा हैं और महाकवि स्वयंभूदेव सूर्य बन कर दमक रहे हैं। पुष्पदंत की काव्यकला का शोधपरक मूल्यांकन आज की विशेष अपेक्षा मैं मानता हूँ।

2. वही, पृष्ठ 227
3. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृष्ठ 68 (प्र.सं. 1965)
4. "गायकुमारचरिउ" की संघियों की पुष्पिकाओं में "राण्ण गामकिए" तथा "जसहरचरिउ" की पुष्पिकाओं में "राण्ण कण्णाहरण" मिलता है।
5. महापुराण 1.6
6. महापुराण, उत्थानिका भाग
7. "महापुराण" तीन खण्डों में डॉ. पी. एल. वेंच द्वारा सम्पादित बम्बई से प्रकाशित।
8. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य, पृ. 104 (प्र. सं. 1963)
9. महापुराण, 5.2
10. महापुराण, 7.1
11. महापुराण, 2.6
12. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ. 96
13. महापुराण, 1.9
14. स्वयंभूदेव : पउमचरिउ (विद्याधर काण्ड), 1.3.1
15. महापुराण, प्रथम संघि (स्तुति अंश)
16. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ. 222
17. महापुराण, 2.39
18. महापुराण, 2.41
19. पुष्पदंत : जसहरचरिउ, 11
20. महापुराण, 1.68
21. डॉ. रामसिंह तोमर : प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य, पृ. 111



# पुष्पदंत की भाषा

— डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया



उत्तरकालीन अपभ्रंश का जो रूप पुष्पदंत के काव्य में दृष्टिगत होता है उसके सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्पष्टतः सामने आता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं के प्रारंभिक रूप का विकास जिस भाषा-रूप से हुआ उससे वह कितना निकट है। इस दृष्टि से अपभ्रंश-धारा में पुष्पदंत का स्थान अद्वितीय है। पुष्पदंत ने अपने महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है —

सक्कुड पायउ अवहंसउ वितउ उप्पाउ सपसंसउ ।

|        |        |  
संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश

महापुराण 5.18.6

अपभ्रंश का हिन्दी से क्या संबंध ? इस प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए महा-पण्डित राहुलजी ने “हिन्दी काव्यधारा” की भूमिका में लिखा है — “इस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं, शायद इससे आप समझने लगे होंगे कि तब तो यह हिन्दी से जरूर अलग भाषा होगी। लेकिन नाम पर न जाइये, इसका दूसरा नाम “देसी” भाषा भी है। अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप भ्रष्ट नहीं, अपभ्रष्ट — बहुत ही भ्रष्ट हैं इसलिए संस्कृत पंडितों को ये जाति-भ्रष्ट शब्द बुरे लगते होंगे। लेकिन शब्दों का रूप बदलते-बदलते नया रूप लेना — अपभ्रष्ट होना — दूषण नहीं भूषण है, इससे शब्दों के उच्चारण में ही नहीं अर्थ में भी अधिक कोमलता, अधिक मार्मिकता आती है। “माता” संस्कृत शब्द है, उसके “मातु”, “माई” और “मावो” तक पहुँच जाना अधिक मधुर बनने के

लिए है। खेद है यहाँ भी कितने ही जीम-हकीमों ने शुद्ध संस्कृत “माता” को ही नहीं लिया बल्कि उसमें “जी” लगाकर “माताजी” बना उसके ऐतिहासिक माधुर्य को ही नष्ट कर डाला। अस्तु, यह निश्चित है कि अपभ्रंश होना दूषण नहीं भूषण था।”

प्रारंभिक हिन्दी के इस आदि रूप उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करनेवाले महाकवि पुष्पदंत क्रान्तदर्शी थे जिनके द्वारा एक ओर बाण की श्लेष शैली (जिसमें पद-योजना, अलंकारादि प्राचीन परिपाटी पर हैं) तो दूसरी ओर भाषा का अपेक्षाकृत चलता हुआ जनसाधारण में प्रचलित रूप अपनाया गया। डॉ० हरिवंश कोछड़ ने पुष्पदंत को अपभ्रंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हुए लिखा है—“पुष्पदंत को अपभ्रंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। पुष्पदंत की प्रतिभा का मूल्य इसी बात से आंका जा सकता है कि इनको अपने महापुराण में एक ही विषय स्वप्न-दर्शन को चौबीस बार अंकित करना पड़ा।”

अपनी विनम्रता में पुष्पदंत ने यहाँ तक कह दिया कि—

“एउ हउं होमि वियक्खणु ए मुणमि लक्खणु छंडु बेसि ए वियाणमि।”

महापुराण 1.8.10

न तो मैं छन्दशास्त्र के नियमों को भलीभाँति जानता हूँ और न मैं इस विलक्षण देसी भाषा का जानकार हूँ।

विद्वानों ने अपभ्रंश के अनेक भेद किये हैं। डॉ० लगारे ने “अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण” शीर्षक प्रबन्ध में तीन भेद स्वीकार किये हैं—

1. दक्षिणी अपभ्रंश
2. पश्चिमी अपभ्रंश
3. पूर्वी अपभ्रंश

दक्षिणी अपभ्रंश के अन्तर्गत पुष्पदंत तथा कनकामर की कृतियाँ सम्मिलित होती हैं। पुष्पदंत ने इसी अपभ्रंश में अपने ग्रंथों की रचना की पर हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपि गुजरात में होने के कारण पश्चिमी अपभ्रंश की भूलक उसमें यत्र-तत्र समाहित हो गई है। पुष्पदंत की कृतियों का विवरण इस प्रकार है—

	समय	स्थान	वर्तमान स्थिति
1. महापुराण	965 ई०	मान्यखेट	मालखंड (निजाम राज्य, आन्ध्रप्रदेश)
2. जसहरचरिउ	965-972	”	”
3. णायकुमारचरिउ	”	”	”

सभी ग्रंथ दक्षिण में लिखे होने के कारण दक्षिणी अपभ्रंश से संबंधित रहे। हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के नागौर, बूंदी, कामा, ब्यावर, श्रीमहावीरजी, जयपुर के जैन भण्डारों में मिलती हैं।



## भाषा-संबंधी विशेषताएं

### 1. ध्वनि परिवर्तन संबंधी विशेषताएं

ध्वनि परिवर्तन संबंधी विशेषताएं सामान्यतः अणभ्रंश की हैं जिसके आदि रूपों के दर्शन हमको "पालि" काल से होने लगते हैं, फिर भी पुष्पदंत का महत्त्व इस दृष्टि से विशेष है कि इस काल तक आते-आते रूपों में स्थिरता आ चुकी थी।

#### 1.1 स्वर-संबंधी

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ आदि स्वर सामान्यतः प्राप्त होते हैं।

'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर क्रमशः 'अइ' तथा 'अउ' इस काल में मिलते हैं—

ऐ — अइ	भैरव	—	भइरव
	विश्रमै	—	विसमइ
	भवै	—	भवइ
औ — अउ	हौं	—	हउं
	भौं	—	भउं
	भौंहा	—	भउंहा
	औखलिहिं	—	अउहलम्पि, उक्खलु रूप भी मिलता है।

स्वरों में प्रायः "ऋ" का लोप हो गया है, अधिकांशतः इसके स्थान पर "ई" और कहीं-कहीं "अ", "उ" आदि स्वर भी विकसित हो गये हैं—

ऋ — इ	हृदय	—	हियय
	घृतपूर	—	घियपूर
ऋ — अ	शृंखला	—	संखला
	तृष्णा	—	तण्ह
ऋ — उ	ऋतु	—	उतु
	घृष्ट	—	घुट्ठ

कहीं-कहीं "ऋ" के स्थान पर "रि" भी विकसित हुआ है—

ऋक्ष	—	रिक्ख
------	---	-------

स्वरों में समीकरण तथा विषमीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है—

विषमीकरण	पुरुष	—	पुरिस
----------	-------	---	-------

#### 1.2 व्यंजन-संबंधी

##### 1.2.1 श, ष के स्थान पर स

शशि	—	ससि
शीर्ष	—	सीसु
विदुष	—	विउस

अभिषेक	-	अभिसेय
विष	-	विस
वेष	-	वेस
दिशि	-	दिसि
विशेष	-	विसेस

### 1.2.2 "र" के स्थान पर "ल"

"र" और "ल" का परस्पर विपर्यय तो वैदिक काल से ही चला आ रहा है -

निहारी	-	रिहालउ
भ्रमर	-	भमलु
दारिद्र	-	दालिदु

### 1.2.3 घोषीकरण की प्रवृत्ति

जूट	-	जूड
-----	---	-----

### 1.2.4 "प" के स्थान पर "व"

इस प्रवृत्ति की ओर हेमचन्द्र ने भी पर्याप्त ध्यान दिया है। पैशाची की विशेषताएँ बताते हुए शालिग्राम उपाध्याय लिखते हैं, "इस भाषा में "प" का या तो लोप हो जाता है या स्वर से परे असंयुक्त रहने पर "व" हो जाया करता है। अतः पईव (प्रदीप), पावं (पापं), उवमा (उपमा), कलावो (कलापः), कवालं (कपालम्), महिवाल (महीपाल), कविलं (कपिलं) आदि रूप मिलते हैं।" चंड ने भी अपने प्राकृत लक्षण में उपमान के लिए "पिव" इव, विव, विय, व्व, व तथा वत् का प्रयोग स्वीकार किया है। पुष्पदंत के काव्य में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं -

गोपी	-	गोवी	-	गोवि
कोऽपि	-	कोवि	(कोई भी मिलता है)	

### 1.2.5 मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति

एकार बहुला इस भाषा में मूर्द्धन्य ध्वनियों का आधिपत्य होना स्वाभाविक ही है। इस प्रवृत्ति के कारण बहुत से व्यक्ति तो इन अपभ्रंशों को "एाउ एाउ" भाषा कहकर पुकारते हैं। एकार का बाहुल्य आज भी एक ओर हिन्दी की बांगड़, मेरठी आदि बोलियों में दूसरी ओर आधुनिक आर्य भाषाओं - उड़िया, मराठी आदि में परिलक्षित होता है।

#### 1.2.5.1 "ए" के स्थान पर "ए" मिलता ही है पर "न" के स्थान पर भी "ए"

भुवन	-	भुवण
पुनि	-	पुणि - पुणु

सभी स्थितियों में यह प्रवृत्ति है -

आद्य	-	नन्दन	-	रांदरण
		नीरसु	-	गीरसु
		नव	-	णव
मध्य	-	महानुभाव	-	महाणभाव
		जिननाथ	-	जिणराथ
अन्त्य	-	धन	-	धण
		दीन	-	दीणु

### 1.2.6 व्यंजन-लोप

आकृतों से ही व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति बढ़ गई थी जिसमें अपभ्रंश काल तक आते-आते स्थिरता आ गई। मध्य तथा अन्त्य व्यंजन के लोप की प्रवृत्ति विशेष दृष्टिगत होती है -

#### 1.2.6.1 मध्य व्यंजन-लोप

जोगिनि	-	जोइणि
गोकुल	-	गोउलु
जमुना	-	जउणा
अतिशय	-	अइसइ

#### 1.2.6.2 व्यंजन-लोप के बाद य-श्रुति का आगम

##### 1.2.6.2.1 -

मध्य स्थिति	-	नगर	-	णयर
		माकंद	-	मायंद
		वचन	-	वयण
		नागर	-	णायर
		दिवाकर	-	दिवायर
अन्त्य	-	शोक	-	शोय
		घात	-	घाय

(आज भी घाव रूप भी चलता है।)

अभिषेक	-	अहिसेय
--------	---	--------

#### 1.2.7 "य" के स्थान पर "ज"

युगल	-	जुयल
यशोद	-	जसोय

#### 1.2.8 'ज' के स्थान पर 'य'

निज	-	णिय
जणु	-	यणु

## 1.2.9 महाप्राण ध्वनियों में से केवल महाप्राणत्व का रह जाना

ख - ह	मुख	-	मुह
	सम्मुख	-	संमुह
घ - ह	दीर्घ	-	दीहर, दीह
घ - ह	मधु	-	महु
	पयोधर	-	पयोहर
	दधि	-	दहि
	अवधीरिय	-	अवहेरिय
भ - ह	प्रभु	-	पहु
	अभिमान	-	अहिमाण
	शोभित	-	सोहिय
	विच्छोभ	-	विच्छोह

## 1.2.10 व्यंजन-गुच्छ तथा व्यंजन-संयोग

## 1.2.10.1 द्वित्व की प्रवृत्ति

द्वित्व की यह प्रवृत्ति पालि काल से ही प्रारंभ हो गई थी।

## दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर द्वित्व

उद्बद्ध	-	उब्बद्ध
रक्ति	-	रत्ति
शत्रु	-	सत्तु
भक्ति	-	भत्ति

## रेफ के साथ ध्वनि के स्थान पर द्वित्व

दुर्गम	-	दुग्गम
निर्जन	-	णिज्जण
चक्रवाल	-	चक्कवाल

## 1.2.10.2 दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर तीसरी ध्वनि

स्त	-	थ
स्तेन	-	थेण (नोट - सामान्यतः स्त के स्थान पर "त्थ" भी मिलता है, जैसे - हस्त - हत्थ, हस्ति - हत्थि, प्रशस्त - पसत्थु)
स्क	-	ख
स्कंध	-	खंध

1.2.10.3 दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि

भ्रमंतु	—	भमंतु
विश्राम	—	बीसमइ
प्रिय	—	पिय

1.2.10.4 एक गुच्छ के स्थान पर सर्वथा दूसरा गुच्छ

स्न	}	पह	स्नान	—	पहारा	(वर्तमान में नहान)
ष्णा			कृष्णा	—	कण्ह	(वर्तमान में कान्ह)
न्य	}	परा	शून्य	—	सुण्णु	(सिर्रोह रूप भी)
स्न			निःस्नेह	—	सिर्रोणो	
ज्ञ			अज्ञाने	—	अण्णारो	
ष्ट	}	ट्ठ	घृष्ट	—	धुट्ठ	
ष्ठ			गोष्ठे	—	गोट्ठि	
त्स		च्छ	वत्सर	—	वच्छर	
र्म	}	ब्भ	गर्भ	—	गब्भ	
म्य			अभ्यागत	—	अब्भागत	
ष्प		प्फ	पुष्प	—	पुप्फ	

1.2.10.5 स्वरागम या स्वर-भक्ति के कारण गुच्छ टूट जाते हैं

श्री — सिरि (शिर का भी रूप सिरि ही मिलता है)

1.2.10.6 एक ध्वनि के स्थान पर कई गुच्छ तथा एक ध्वनि

क्ष	}	च्छ	कुक्षि	—	कुच्छि	(हिन्दी में भी अर्थ-भेद से चलता है।)
		ख	क्षीर	—	खीर	
		कख	रक्षति	—	रक्खिसि	

2. अन्य विशेषताएँ

2.1 उकार बहुला प्रवृत्ति

शब्दों के अन्त में उकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश की एक प्रमुख विशेषता है जिसका बाहुल्य आज भी ब्रजभाषा में है —

एक ही पंक्ति में देखिये — उव्वद्ध—जूडु भू-भंग—भीसु  
तोडेप्पिणु चोडहोतैणउ सीसु।

“य” तथा “व” के स्थान पर भी “उ” व्यवहृत होता था —

राव — राउ, अन्याय — अण्णाय

2.2 दसवीं शताब्दि तक आते-आते तद्भव शब्दावली के रूप बहुत कुछ स्थिर हो गये थे जिन्हसे मिलते-जुलते रूपवाले शब्द आज भी प्रचुर मात्रा में लोक में प्रचलित हैं —

कज्जु (काज), अज्ज (आज), तुज्झु (तुझे), दीवय (दीवा), तंब (तांबा), मुग्ग (मूंग), बग्घ (बाघ), मोत्ति (मोती), सोहग्ग (सुहाग), खेतु (खेत) हत्थि,

(हाथी) । इसके अतिरिक्त घर, भंभा, पहर, खीर, गाम, दही, आदि शब्द तो उस काल में पूर्णतया स्थिर हो गये । आज पुनः घर को “गृह” के रूप में लिखने की चेष्टा की जा रही है, जिन रूपों को लोक में प्रचलित होने में 2000 वर्ष लगे क्या उन शब्दों को इन प्रयासों से बदला या हटाया जा सकता है ?

2.3 कुछ शब्द लोक-भाषाओं में पर्याप्त आवृत्ति के साथ चल रहे हैं यद्यपि परिनिष्ठित हिन्दी में उनके तत्सम रूप को ही व्यवहृत किया जा रहा है -

दालिद्ध (र) (दारिद्र्य), सामल (श्यामल), उच्छव (उत्सव), पौत्थ-पौथी (पुस्तक), थण (स्तन), हेट्ठ (हेठा) ।

इसके अतिरिक्त घल्लइ, चक्खइ, चड्डू, चडाविइ, मुलइ, छज्जइ, छंडइ, छिवह, जंकइ, वोक्खइ, भडप्पइ, भंपइ, भुल्लइ, ढलइ, ढंकइ, बुड्डइ, मुक्कइ, संगइ, छल्लइ, आदि सहस्रों क्रियाएं तथा कसेरू, कुंड, सुरप्य, सील्ल, घियपूर, चीज्ज, छिक्र, टोप्पी, पेल्लिय, पोट्टुल, बोहित्थ, मेलअ, रंडी, लुक्क, आदि सहस्रों अन्य प्रकार के शब्द भी पुष्पवंत के काव्य में मिलते हैं जिनसे मिलते-जुलते शब्दों का आज हम प्रयोग करते हैं ।

2.4 कुछ विशिष्ट शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रयोग आज हिन्दी में प्रचलित नहीं है - रिछोली (पंक्ति), गोदलिय (चर्बिता), धम्मेल्ल (जूड़ा), विट्टलउ (मलिन), संडे (नपुंसक), चंगा (अच्छा), ढुक्कु, (प्रविष्ट हुआ), सुट्ठ (अच्छा), अरुवंगिय (मालिश), विसंठुल (अस्त-व्यस्त), विंभिउ (विस्मय) आदि । पर इन शब्दों में कुछ शब्द जैसे चंगा, सुट्ठा आदि आज भी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं - पंजाबी, सिंधी आदि में प्रचलित हैं । “धम्मिल” आदि शब्द का प्रयोग तो जायसी में भी मिलता है ।

2.5 अपभ्रंश की एक सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग । भावानु-कूल शब्द-योजना के लिए इससे अच्छा और कोई अन्य साधन नहीं मिल सकता ।

कुक्करंति, गुमगुमति, पुरूहरंत, भरभरियई, रणारणउं, चुमचुमति, रणरणउं, धगधगधगंति, धण पुफ्फुवंत, कडकडंतु आदि सहस्रों शब्द भरे पड़े हैं ।

गोवद्धंन-धारण का एक चित्र देखिए -

जलु गलइ, भलभलइ, दरि भरइ, सरि सरइ ।  
तडयडइ, तडि पडइ । गिरि पुडइ, सिहि णडइ ॥  
मरु चलइ, तरु धुलइ । जलु थलु वि, गोजहु वि ।  
रणरु रसिउ, मय तसिउ थरहरइ, किरमरइ ॥

एक और चित्र देखिए -

पडु तडि वउण पडिय वियडायल रुंजिय सीह वारुणो ।  
गिरि सरि दरि संरत सरसर भय वारुणमुक्कणी सरुणो ॥

शब्द-योजना से एक प्रकार की ऐसी ध्वनि निकलती-सी प्रतीत होती है जैसे बादलों के अनवरत शब्द से समस्त आकाश भरा हुआ है । कहीं-कहीं तो इस प्रकार के शब्दों की झड़ी-सी लग जाती है -

तड-तड-तड-तड-तडतडिय सिगु ।

## 2.6 चित्रोपमता

ध्वन्यात्मक शब्दावली से अथवा पद-योजना से कवि कुछ ऐसे वर्णन प्रस्तुत करता है कि एक चित्र खिंच जाता है -

जलणहिव भलभलइ ।  
विसहरवि चलचलइ ॥

एक और चित्र देखिए -

घोटइ खीरं, लोटइ एीरं । भंजइ कुंभं, मेल्लइ डिभं ।  
छंडइ महियं, चक्खइ दहियं, कठइ चिच्चि, धरइ चलच्चि ॥

क्रिया व्यापारों की भीड़-भाड़ से -

लुंचणइं, खैचणइं, कुंचणइं, लुट्टणइं । कुट्ठणइं थट्टणइं वट्टणइं ।  
पउलणइं पीलणइं हूलणइं चालणइं । चलणइं ठलणइं मलणइं गिलणइं ॥

कहीं कोमलकान्त पदावली की संयोजना से -

पर पय-रय-धूसर किकर सरि ।

जसहरचरिउ की भाषा पर विचार-विमर्श करते हुए डॉ० कोछड़ लिखते हैं -  
“भावोद्भेक की दृष्टि से भावतीव्रता ग्रंथ में मन्द है किन्तु भाषा वेगवती है। कवि जो कुछ कहना चाहता है तदनुकूल शब्द योजना कर सका है” -

तोडइ तडति तणु वंधणइ । भोडइ कडति हडुइ धणइं ।  
फाडइ चडति चम्पइं चलइं । घुट्टइ धडति सारिण्य बलइं ॥

इसमें देखिये भिन्न-भिन्न शब्द-योजना द्वारा शरीर की ग्रंथियों का तड़ से टूटना, हड्डियों का कड़-कड़ कर मुड़ना, चमड़े का चरं से अलग हो जाना, खून का घट-घट पीजाना आदि के लिए कितने उपयुक्त शब्द हैं ।

इस प्रकार अनुरणनात्मक शब्दों की योजना में पुष्पदंत जैसा सिद्धहस्त कवि हमको समस्त हिन्दी साहित्य में कोई दूसरा नहीं दृष्टिगत होता है, यह प्रवृत्ति भाषा को प्राणवान् बनाती है, आधुनिक काल में छायावाद में आकर पुनः इस ओर कवियों ने ध्यान दिया ।

पुनरुक्ति द्वारा भी कवि ने चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की है। इस विधि से जहाँ एक ओर भाषा में वेग आया है वहाँ दूसरी ओर बल प्रयुक्त हुआ है ।

माणस-सरीर बुह-घोटलउ । घायेउ घायेउ अइ-विट्टलउ ।  
वासिउ वासिउ एउं सुरहि फलुं । पोसिउ पोसिउ एाउ धरह बलु ॥  
तोसिउ तोसिउ एाउ अप्पणउ । मोसिउ मोसिउ धरमायणउ ।  
भूसिउ भूसिउ ए सुहावणउ । मंडिउ मंडिउ मीसावणउ ॥

### 3. मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

पुष्पदंत की भाषा सजीव भाषा है जिसमें लोकोक्तियों, मुहावरों आदि के सम्यक् प्रयोग से प्रवाह बना हुआ है, साथ ही अर्थ में गाम्भीर्य बना हुआ है। अपभ्रंश साहित्य में डॉ० कोछड़ ने इसप्रकार की लोकोक्तियों का संग्रह किया भी है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समस्त साहित्य से इस प्रकार का संग्रह किया जाय। कुछ उदाहरण देखिये—

**भुक्कवउ छरण्यंदहु सारमेउ ।**

(पूर्णिमा चन्द्र पर कुत्ता भौंके उसका क्या बिगाड़ेगा)

**उट्ठाबिउ सुत्तउ सीहु केण ।**

(सोते सिंह को किसने जगाया)

**माणभंगु वर मरणु एण जीविउ ।**

(अप्रमानित होने पर जीवित रहने से मृत्यु भली)

**को तं पुसए णिडालइ लिहियउ**

(मस्तक में लिखे को कौन पौछ सकता है)

**भरियउ पुणु रितउ होइ राय**

(भरा खाली होगा)

**लूयांसुत्ते वज्झइ मसउ एण हत्थि णिरुज्झइ ।**

(मकड़ी के जाल सूत्र से मच्छर तो बांधा जा सकता है, हाथी नहीं रोका जा सकता।)

**खग्गे मेहे कि णिरुज्जेण, तरुणा रसरेण कि णिण्फलेण ।**

(पानी रहित मेघ से और खड्ग से क्या लाभ।)

### 4. अलंकारमयी भाषा

भाषा में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार प्रचुर रूप में व्याप्त हैं जिनसे काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। एक उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है—

**विज्जुलियए कंचुलियए भूमियदेहए सुरघणु**

**घणमालए णं बालए किउ विचित्तु उप्परियणु ।**

विद्युत्रूपी कंचुकी से भूषित देहवाली घनमालारूपी बाला ने मानो सुरघनु-रूपी उपरितन वस्त्र धारण किया हो।

इस प्रकार भाषा को सजीव तथा सप्राण, साथ ही प्रवाहमयी धारा का रूप प्रदान करनेवाले सभी तत्त्व पुष्पदंत की भाषा में विद्यमान थे। एक ओर उसकी भाषा में संस्कृत की समास-शैली, जिसमें अलंकारों का बाहुल्य, शब्दों का चमत्कार होने से क्लिष्टता आ गई है तो दूसरी ओर सरल प्रवाहमय भाषा के प्रयोग से जनसाधारण के अधिक निकट होने का गुण भी उसमें विद्यमान है। यही भाषा लोक-भाषा है जिसमें लोक में प्रचलित मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ बिना प्रयास चले जाते हैं और आज की हिन्दी का विकास भी इसी लोक-प्रचलित भाषा के स्वरूप से हुआ है।



# महापुराण की काव्यभाषा

— डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव



“महापुराण” अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत (ईसा की 10वीं शती) द्वारा सौष्ठवपूर्ण काव्यभाषा में रचित महाकाव्य है। जैन धार्मिक साहित्य के प्रथमानुयोग में परिगणित इस महाकाव्य का अपर पर्याय “तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार” (त्रिषष्टि-महापुरुषगुणालंकार) है। पुष्पदंत ने अपने शुभावतरण से काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण कुल को अलंकृत किया था। उनके पिता का नाम केशवभट्ट और माता का नाम मुग्धादेवी था। वह अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में शैव थे और उत्तरार्द्ध में आकर दिगम्बर जैन हो गये। मान्यखेट (वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के हैदराबाद राज्य का मलखेड़) के राजा भरत के आश्रय में रहकर उन्होंने “महापुराण” की रचना की और फिर राजा भरत के पुत्र युवराज नन्न के आश्रय में “णायकुमारचरित” तथा “जसहरचरित” जैसे कालजयी अपभ्रंश-खण्डकाव्यों का प्रणयन किया। निर्धन होकर भी वे कवित्वाभिमान के धनी थे इसलिए उन्होंने अपने को “काव्य पिशाच”, “अभिमान मेरु”, “कविकुलतिलक”, “काव्यरत्नाकर”, “सरस्वती-निलय” आदि चित्र-विचित्र उपाधियों से विमण्डित किया है।

मगधराज श्रेणिक (बिम्बसार) के अनुरोध पर भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतमस्वामी ने “महापुराण”, यानी प्राचीनकाल की महती कथा प्रस्तुत की थी। पुराण में एक ही धर्मपुरुष या महापुरुष का वर्णन होता है और महापुराण में अनेक महापुरुषों का। महाकवि पुष्पदंत ने अपने इस “महापुराण” में तिरसठ (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव और नौ बलदेव) शलाका पुरुषों या महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया है इसलिए उन्होंने इसे “तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार” नाम से भी अभिहित किया है। पुष्पदंत के अतिरिक्त, उनके पूर्ववर्ती जिनसेन द्वितीय (नवीं शती) ने

“त्रिषष्टि लक्षणा आदिपुराण” और परवर्ती हेमचन्द्र (12वीं शती) ने भी “त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित” में संस्कृत-भाषा में तिरसठ शलाकापुरुषों का चरित्र-चित्रण उपन्यस्त किया है।

महाकवि पुष्पदंत के कुल एक सौ दो सन्धियों से समन्वित इस महापुराण में तिरसठ महापुरुषों के वर्णन-क्रम में, जैनाम्नायकी दृष्टि से “रामायण” और “महाभारत” की कथाओं को भी अन्तर्भूत किया गया है।

जैसा कहा गया, महाकवि पुष्पदंत का “महापुराण” तिरसठशलाकापुरुषों या महापुरुषों की महती कथा है, जो महाकवि गुणाद्य की पैंशाची-प्राकृत में लिखी गई “वृहत्कथा” के परवर्ती विकास की परम्परा का जैन नव्योद्भावन है। यह “महापुराण” इतिहास, कल्पना, मिथकीय चेतना एवं कथारूढ़ि से मिश्रित कथानक की व्यापकता और विशालता साथ ही भावसघन एवं रसपेशल भाषिक वक्रता, चमत्कारपूर्ण घटनाओं की अलौकिकता, व्यंजनागर्भ काव्यमय सरस सुन्दर वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से काव्यभाषा के मनोरम शिल्प से सज्जित महाकाव्य का असाधारण प्रतिमान बन गया है।

सामान्य भाषा ही जब विशेषोक्तिमूलक होती है, तब काव्यभाषा बन जाती है। इसलिए सामान्य भाषा यदि जल के समान है, तो काव्यभाषा उस जल से उत्पन्न लहर के समान। काव्यभाषा में कविता की प्राकृतिक शक्ति अन्तर्निहित रहती है, इसलिए वह सामान्य भाषा से अधिक प्रभावक होती है। काव्यभाषा की यह प्रभावना ही है कि काव्य गुणों से अनभिज्ञ श्रोता भी काव्यपाठ सुनकर आनन्दविमुग्ध हो उठता है। इसलिए, कवि सुबन्धु ने अपने प्रसिद्ध कथाग्रन्थ “वासवदत्ता” में कहा है—

अविदितगुणापि सत्कविभरितिः कण्ठेषु वमति मधुधाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥

अर्थात् “सत्कवि की कविता, उसके गुणों को जाने बिना भी, श्रवणमात्र से ही कानों में मधुधारा की वर्षा करती है, जैसे मालती पुष्पों की माला, उसके सौरभ को ग्रहण किये बिना भी दृष्टि को लुभा देती है।” कहना न होगा कि महाकवि पुष्पदंत के महापुराण की काव्यभाषा में श्रवणमात्र से ही हृदय को आकृष्ट कर लेने की प्रचुर शक्ति विद्यमान है। इस सन्दर्भ में एक दूसरे की ओर बढ़ती हुई दो सेनाओं का एक वर्णन द्रष्टव्य है—

चलचरणचारचालियधराइं,

डोल्लावियगिरिविवरंतराइं ।

ढलहलियधुलियवरविसहराइं,

भयतसिररसियधरणवण्यराइं ।

भलभलियवलियसायरजलाइं,

जलजलियकालकोवाणलाइं ॥ आदि० (52.14)

युद्धविषयक कठोर बिम्बमूलक इस अवतरण में काव्यगत ऐसी भाषिक शक्ति निहित है कि वह श्रोताओं को अर्थ जाने बिना भी श्रवणमात्र से ही सहसा आर्वाजित कर लेने की क्षमता रखता है।

ज्ञातव्य है, काव्य के अनेक तत्त्वों में भाषा का अन्यतम स्थान है इसलिए भारतीय कवियों ने अपने काव्यों में भाषा के महत्त्व पर अधिक ध्यान दिया है और जिन्होंने ऐसा नहीं किया, उनके काव्य सम्प्रेषणीय नहीं बन सके। इसलिए, गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जनकाव्य “रामचरितमानस” में रस और छन्द के पहले वर्ण और अर्थसंबंध को ही मूल्य दिया है। महाकवि पुष्पदंत ने भी काव्यरचना-प्रक्रिया में भाषिक ज्ञान को महत्त्व देते हुए संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की शिक्षा के साथ ही अपभ्रंश भाषा की शिक्षा पर भी बल दिया है। (द्र. महापुराण, 5.18)। अतएव, कहना न होगा कि भाषा ही काव्य है और काव्य भी किसी-न-किसी रूप में भाषा ही है। अर्थात् काव्य और भाषा में अविच्छिन्न अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। काव्यशास्त्रियों ने भी भाषा को ध्यान में रखकर शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को काव्य कहा है।

काव्य और भाषा, दोनों ही जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक भाषा की वचोभंगी, नाद और गुण उसके बोलनेवालों की प्रकृति के अनुरूप होते हैं। बोलनेवालों की उग्र और कोमल प्रकृति के अनुसार ही भाषा का स्वर भी उग्र और कोमल होगा। उदाहरणार्थ “महापुराण” की काव्यभाषा के सन्दर्भ में, रावणवध के बाद पतिगतप्राणा मन्दोदरी के विलाप में करुणा-कोमल भाषिक स्वर की अनुभूति स्पष्ट है—

पइं विणु जगि दसास जं जिज्जइ,  
तं परडुक्ख समूहु सहिज्जइ ।  
हा पिययम भणत्तु सोयाउरु,  
कंदइ रिणरवसेसु अंतउरु । 78.22

भाषा की शैली से ही कवि की प्रकृति और व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। अंग्रेजी की उक्ति प्रसिद्ध है— “स्टाइल इज द मैन”। कोई भी कवि के तत्त्व, भाव यहाँ तक कि साहित्यिक अवधारणाएँ भी परम्परा से ही प्राप्त करता है। केवल भाषा ही एक ऐसी वस्तु है, जो उसे पारस्परिक उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त होती, अपितु वह उसकी स्वयं की निर्मित होती है। इसलिए, एक ही रीति में लिखनेवाले कवियों की भाषाएँ भिन्न हो जाती हैं। कवि को भाषा से संघर्ष करना पड़ता है, तभी वह उसका कायाकल्प कर पाता है। महाकवि पुष्पदंत के “महापुराण” में इस प्रकार के भाषिक कायाकल्प के अनेक अनुपम संदर्भ उपलब्ध हैं। भाषिक कायाकल्प का तात्पर्य प्रयोग की अभिनवता से है। “मेघदूत” में कालीदास ने उज्जयिनी वर्णन-क्रम में उसे “कान्तिमान् स्वर्गखण्ड” कहा है। पोटननगर के चित्रण-क्रम में इसी रीति का वर्णन महाकवि पुष्पदंत की भाषा में भिन्न हो गया है। यथा—

तहिं पोयण गामु गयरु अत्थि वित्थिण्णउं ।  
सुरलोएं गाइ धरणिहि पाहुडु दिण्णउं ॥ (92.2)

अर्थात् पोटननगर इतना विस्तीर्ण, समृद्ध और सुन्दर था, मानो सुरलोक ने उसे पृथ्वी के लिए भेंट दी हो।

पुनः इसी वचोभंगी में राजगृह नगर का भी चित्रण द्रष्टव्य है :

जहिं दीसइ तहिं भल्लउ एयरु एवल्लउ ससिरविभ्रंतविहूसिउ ।

उवरिविलंबियतरणिहे सगें धरणिहे गावइ धाहुडु पेसिउ ॥ (1.15)

इस सन्दर्भ में भी कवि ने कहा है कि राजगृह मानो स्वर्ग द्वारा पृथ्वी के लिए भेजा गया उपहार हो ।

कवि अपनी काव्यभाषा में नादसौन्दर्य-सृष्टि अथवा किसी वाक्य-खंड पर बल देने या रसानुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ऐसी वाक्य-व्यवस्था करता है जिसमें वाक्यगत आकृति की पुनरावृत्ति होती है । इसे ही “समान्तरता” कहा जाता है । इसका सबसे सरल प्रकार आद्यपुनरुक्ति है जिसमें कई चरणों तक आरम्भ में एक अथवा अधिक शब्द दुहराये जाते हैं । “महापुराण” में महाकवि पुष्पदंत ने इस “समान्तरता” का प्रायः उपयोग किया है । वीर रस का एक उदाहरण —

भडु को वि भणइ जइ जाइ जीउ,

तो जाउ थाउ छुडु पहुपयाउ ।

भडु को वि भणइ रिउं एंतु चंडु,

मइ अज्जु करेवउ खंडखंडु ।

भडु को वि भणइ जइ मंडु पडइ,

तो महं वंडु जि रिउं हणवि राडइ ॥ (52.12.3)

अर्थात् कोई भट यह कहता है कि प्राण जाये तो भले ही जाये, किन्तु स्वामी का प्रभाव स्थिर रहे । कोई भट प्रचंड शत्रु को आते देख कहता है कि आज मैं उसे खंड-खंड कर दूंगा । कोई भट कहता है कि यदि शिर से कटकर गिर जायगा, तो भी घड़ शत्रु को मारने के लिए नाचता फिरेगा ।

नदी और सेना की तुलना के प्रसंग में “समान्तरता” का एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है —

सरि छज्जइ उगायपंकयाहिं,

बलु छज्जइ चित्तछत्तसयाहिं ।

सरि छज्जइ हंसहिं जलयरहिं,

बलु छज्जइ धवलाहिं चामराहिं ॥ आदि (15.12)

काव्यभाषा और लोकभाषा में अदृष्ट सम्बन्ध होता है । सच तो यह है कि काव्य-भाषा लोकभाषा से उद्भूत होती है और भविष्य में आनेवाली लोकभाषा वर्तमान की काव्यभाषा के बीजरूप होती है । किन्तु, कवि इस बात के प्रति सतर्क रहता है कि उसकी काव्यभाषा लोकभाषा से सम्पृक्त होकर भी विशिष्ट बनी रहे — न वह अधिक क्षुद्र हो, न ही अधिक दुरूह । कहना न होगा कि महाकवि पुष्पदंत के “महापुराण” में लोकभाषासिक्त विशिष्ट काव्यभाषा के भव्य दर्शन होते हैं । इस सन्दर्भ में पुष्पदंत के, बोलचाल की भाषा में लिखे गये दो एक प्रयोगों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं । मगध देश के वर्णन-क्रम में कवि की यह उक्ति है —

जहि कोइलु हिडइ कसरणिडु,  
वगलच्छहे णं कज्जलकरंडु ।  
.....

जहि सलिलइं माख्यपेल्लियाइं,  
रविसोसभएण व हल्लियाइं ॥ (1.12)

इस अवतरण में “हिडइ” (हिडना=विचरण करना), पेल्लियाइं (पेलना=आन्दोलित करना) और हल्लियाइं (हलहलाना=हीलना, चंचल होना) शब्द लोकभाषा-मूलक हैं, जिनसे उत्पन्न अभीप्सित अर्थ की अभिव्यंजना अधिकाधिक जनसम्प्रेषणीय बन गई है। इसी क्रम में कवि प्रयुक्त “गिल्ल” (गीला : 29.5) “चक्खइ” (चखता है : 2.19) “जेवइ” (खाता है : 18.7) “डोल्लइ” (डोलता है : 4.18) “रहट्ट” (रहट : 27.1) “डिल्लीहूय” (डीला होकर : 32.3) “तोंद” (पेट : 20.23) “बुड्डइ” (बूढ़ता=डूबता है : 23.11) आदि लौकिक प्रयोग ध्यातव्य हैं।

काव्यभाषा से छन्द का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि छन्द के सभी लक्षण भाषा-मूलक हैं। वस्तुतः छन्द किसी काव्यरचना के शब्दों और अक्षरों की एक ऐसी समान मात्रिक व्यवस्था है जिसकी नियमित एवं निर्धारित आवृत्ति से काव्यपाठ में विलक्षण आनन्द मिलता है। भारतीय काव्य छन्द की महिमा से आपूरित है। छन्दःशास्त्र, काव्यशास्त्र का अंग होते हुए भी एक स्वतन्त्र शास्त्र बन गया है। छन्द मूलतः श्रौत शब्द-विधान है। यह एक ऐसा भाषिक आयोजन है जिससे शब्दों में गति और भाषा में प्रवाह का संचार होता है। गतिशील लयविशेष की सुचिन्तित योजना से ही छन्द की उत्पत्ति होती है। काव्य में कल्पना और समूर्तन के साथ ही आवेग के कम्पन के लिए छन्द अनिवार्य है। भाषा में प्रस्पन्दन के अतिरिक्त अत्यन्त लीनता के साथ भोगी गई अनुभूति की अभिव्यक्ति छन्द के नियंत्रण से ही संभव है। छन्द ही कविता को सांगीतिकता प्रदान करता है, और फिर व्यापक जनप्रेषणीयता के लिए भी छन्द एक अनिवार्य उपादान है। कवि के भावाभिभूत एवं आवेग कम्पित हृदय से छन्द स्वतः फूट उठता है। वाल्मीकि के क्राँचवधजन्य करुणा से उन्मथित एवं हृदय में संचित शोक श्लोक बनकर प्रवाहित हो उठा था : “श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।”

महाकवि पुष्पदंत छन्द की अपार महिमा के मर्मज्ञ थे इसलिए उन्होंने “महापुराण” की प्रत्येक सन्धि में महाकाव्यानुकूल विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि प्रत्येक सन्धि के प्रत्येक कडवक की छन्दोयोजना परिवर्तित नहीं, तथापि कडवक के आदि का छन्द प्रायः प्रत्येक सन्धि में भिन्न है। कहीं-कहीं कडवक में दुवई युग्मक का भी प्रयोग हुआ है। घत्ता के बाद कडवक की व्यवस्था तो अपभ्रंश-काव्य की निजता है जो बाद में हिन्दी के मानस-काव्य में दोहा, चौपाई के रूप में पुनराख्यायित हुआ। महाकवि पुष्पदंत ने मात्रिका छन्दों का अधिक प्रयोग किया है और तुक के निर्वाह का प्रयास भी। महाकवि की इस छन्दोयोजना से उनके महाकाव्य की तीव्र अनुभूत्यात्मक वाणी में लयात्मक स्पन्दन का मोहक विनियोग हुआ है। “महापुराण” में चूँकि भावनाओं और आवेगों की हलचल अधिक है, इसलिए यथाप्रयुक्त छन्दों में मृदु-मंजुल लयात्मकता और प्रस्पन्दन का समावेश

सहज मनोहर प्रतीत होता है। छन्दोविधान की विशिष्टता के कारण ही इस महाकाव्य की काव्यभाषा की अपनी प्रभविष्णुता है।

काव्य में भाषा के सभी अंगों - वर्ण, शब्द, मुहावरा, वाक्य यहाँ तक कि विराम आदि चिह्नों का भी उपयोग होता है अतएव काव्य भाषा का अपना एक समग्र स्वरूप होता है। आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य कुन्तक ने काव्य में वक्रता-विधान का आरम्भ वर्ण से ही माना है। कवियों द्वारा वर्ण से उद्भूत नाद-सौन्दर्य की विविधता प्रस्तुत करने के क्रम में वर्णविन्यास वक्रता का विधान किया जाता है। थोड़े-थोड़े व्यवधान वाले एक, दो अथवा बहुत से अनुरणनात्मक एवं ध्वन्यात्मक व्यंजन वर्णों का समेकित परिगुम्फन वर्णविन्यासवक्रता का ही एक प्रकार है। अलंकारवादी इसे "अनुप्रास" कहते हैं। इस संदर्भ में "महापुराण" का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

तडि तडयडइ पडइ रंजइ हरि,  
तरु कडयडइ फुडइ विहडइ गिरि । (14.9)

काव्यभाषा में क्रियावाचक विशेषणों का समान महत्त्व है। इनके प्रयोग द्वारा कवि अपनी भाषा में प्रायः नवीनता की सृष्टि के लिए सचेष्ट रहता है क्योंकि नवीनता की सृष्टि ही भाषिक वक्रता का मूलोद्देश्य है। काव्यभाषा में नवनिर्मित विशेषण शब्दों का विशेष मूल्य होता है। महाकवि पुष्पदंत द्वारा प्रस्तुत इसका एक उदाहरण इस प्रकार है -

"अंकुरियउ कुसमिउ पल्लविउ महसमयागमु विलसइ ।" (28.13)

यहाँ मधु समयागम (बसन्तागम) का नाम धातुमूलक क्रिया-विशेषण (अंकुरित, कुसुमित और पल्लवित) का वक्रताजनित सौन्दर्य ध्यान देने योग्य है।

इसी प्रकार, अनेकार्थक या पर्यायवाची शब्दों का उपयोग भी काव्यभाषा के लिए आवश्यक होता है। इस संदर्भ में महापुराण से उद्धृत एक-एक उदाहरण -

खगे मेहेँ किं णिज्जलेण, तरुणा सरेण किं णिफ्लेण । (57.7)

इस अवतरण में "निर्जल" (णिज्जलेण) और "निष्फल" (णिफ्लेण) शब्द की अर्थभिन्नता ध्यान देने योग्य है। जल सामान्य अर्थ - पानी, विशिष्ट भिन्न अर्थ - तलवार की धार। फल सामान्य अर्थ - पेड़ का फल, विशिष्ट विभिन्न अर्थ - तीर की नोक।

इसी प्रकार, दूसरा उदाहरण पर्यायवाची शब्द के प्रयोग का -

मुहं मुद्धहि चंदें समु भणमि जइ तो कवणु कइत्तणु । 54.1

कुवलय बंधु वि णाहु णउ दोसायरु जायउ । 69.11

इन दोनों अवतरणों में "चन्द्र" और उसके पर्यायवाची शब्द "दोषाकर" (दोसायरु) ध्यातव्य हैं। चन्द्र से चाँदनी की धवलिमा और दोषाकर से रात्रि के गहन अन्धकार की अनुभूति होती है।

अप्रस्तुतयोजना भी काव्यभाषा की अनिवार्यता है। महाकवि पुष्पदंत के प्रकृति-वर्णन में इसकी प्रयोगभूयिष्ठता दृष्टिगत होती है। उनके भाव और वस्तुबोधक अप्रस्तुत अन्तर प्रभावसाम्य या फिर उपमेय और उपमान के बीच रूपसाम्य से प्रतीकित हैं जिनकी

सुरक्षित रमणीयता ही सर्वोत्तम विशेषता है। इस सन्दर्भ में गंगानदी का कोमल बिम्बमूलक अप्रस्तुत विधान द्रष्टव्य है —

भ्रसरणयणी विबभमणाहिगहिर,  
 एवकुसुमविमीसियभमरचिहुर ।  
 मज्जंतकुंभिकुंभत्थणाल,  
 सेवालणीलणेतंचलाल ।  
 तडविडविगलियमहुधुसिणपिण,  
 चलजलभंगावलिवलितरंग ।  
 सियघोलमाण्डिडीरचीर,  
 पवणुद्धयतारनुसारहार । 12.8

अर्थात् “मत्स्य-रूप नयनोंवाली, आवर्त्त-रूप गंभीर-नाभिवाली, नवकुसुमगुम्फित भ्रमर-रूप केशपाशवाली, स्नान करते हाथियों के गण्डस्थल के समान स्तनोंवाली, शैवाल-रूप नील चंचल नेत्रवाली, तट पर खड़े पेड़ों से गिरे मधु-कुंकुम से पीत वर्णवाली, चंचल जलतरंग-रूप त्रिवलिवाली, बहते हुये फेन-रूप श्वेत वस्त्रवाली तथा पवन कम्पित शुभ्र तुषार रूप द्वारवाली गंगा बड़ी शोभा-शालिनी प्रतीत होती है।

यहाँ गंगा नदी में अप्रस्तुत शृंगारमयी नवयौवना नायिका की बिम्बात्मक और सौन्दर्य-मण्डित प्रस्तुति सचमुच अतिशय हृदयावर्जक है।

इसी प्रकार, पूर्णिमा चन्द्र पर कुत्ते का भौकना : “भुक्कउ छणयंबहु सारभेउ” (1.8), सोते सिंह को जगाना : “उट्टाविउ सुत्तउ सीहु केण” (12.17) आदि मुहावरों का प्रयोग भी “महापुराण” की काव्य-भाषा का आकर्षक भाषिक उपादान है।

काव्यभाषा की वाक्य रचना में कवि राजशेखर सम्मत “आवृत्ताख्यात” नामक वाक्य-वक्रता का अतिशय महत्त्व है। इसमें एक ही क्रिया की भिन्न कर्ताओं के साथ आवृत्ति होती है। “महापुराण” में इस प्रकार की प्रयोगवक्रता का प्रचुर समावेश हुआ है। इस सन्दर्भ में नदी और सेना के तुलनामूलक प्रसंग का एक उदाहरण —

सरि छज्जइ संचरंतभसहि,  
 बलु छज्जइ करवालाहि भसहि ।  
 सरि छज्जइ चक्काहि संगर्याहि,  
 बलु छज्जइ रहचक्काहि गर्याहि । 15.12

इस प्रकार, “महापुराण” की काव्यभाषा के संक्षिप्त निदर्शन से स्पष्ट है कि इसमें भाषिक वक्रता के साथ ही रूपकात्मकता, प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता, रागात्मकता आदि काव्यभाषा के समस्त सौन्दर्यमूलक तत्त्वों का विनिवेश बड़ी चारुता के साथ हुआ है। फलतः महाकवि पुष्पदंत के इस महाकाव्य की सहज कोमल गरिमामयी काव्य-भाषा बिलक्षण है जो गहनतम मानवीय अनुभवों को सम्प्रेषित करने में ततोऽधिक समर्थ है।

## शब्द प्रणाम\*

सारस्वत गगनाञ्चल के तुम दिव्य दिवाकर कान्त ।  
 काश्यपगोत्र पवित्र देह, मन लीन जैन सिद्धान्त ॥  
 मुग्धादेवी की ममता से लालित तुम कवि मेरु ।  
 केशव भट्टात्मज, कवि, पण्डित, तुम अभिमान सुमेरु ॥  
 सरस काव्य रत्नाकर, कवि कुल तिलक, कृष्ण कृश गात्र ।  
 उग्र प्रकृति, संस्कृत-प्राकृत काव्यामृत के तुम पात्र ॥  
 प्रतिभा है सहचरी, काव्य जिन चरणार्पित चन्दन ।  
 अगणित काव्य-पारिजातों के तुम सुरभित नन्दन ॥  
 महामात्य भरतादृत देहिक भोग विमुख, निःसङ्ग ।  
 मान्यखेटवासी, पौराणिक, धूल धूसरित अङ्ग ॥  
 शब्द-ब्रह्म आराधक ! शब्दशक्ति युत हे रससिद्ध !  
 नाग-यशोधर चरित काव्य मय ! महापुराण समृद्ध ॥  
 भूशायी, वल्कलप्रिय, जीवों के निष्कारण मित्र ।  
 जैन-ब्रह्म सिद्धान्त शिरोमणि ! सम्यग्दृष्टि पवित्र ॥  
 कविपिशाच ! अभिमान चिह्न ! अभिमान मेरु ! कवि आप्त ।  
 महापुराण सदृश जीवन में रसधारा है व्याप्त ॥  
 बाधारहित धर्ममय जीवन, धन्य तुम्हारा नाम ।  
 पुष्पदन्त कविवर ! स्वीकारो हार्दिक शब्द प्रणाम ॥

— पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल

\* महाकवि पुष्पदन्त द्वारा उत्तरपुराण में दिये गये स्वकीय जीवन परिचय के आधार पर ।



# महापुराण के रामायण खण्ड की बिम्ब-योजना

— डॉ० छोटेलाल शर्मा



बिम्ब वस्तु, घटना आदि के रूप, रंग, ध्वनि, गति प्रभृति के प्रभावशाली अलंकृत<sup>1</sup> एवं ऐन्द्रिय चित्र<sup>2</sup> को कहते हैं। ये स्वतःसंभवी भी होते हैं और कविप्रौढोक्ति सिद्ध भी। स्वतःसंभवी बिम्बों का निकटतम संबंध देश की समादृति से होता है और कविप्रौढोक्ति सिद्ध बिम्बों का देश और काल की समादृति से। ये कल्पनाप्रसूत होते हैं। कल्पना “कवित्व बीज की संस्कार विशेष”,<sup>3</sup> “अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा” (प्रतिभा)<sup>4</sup> तथा “काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति”<sup>5</sup> का नाम है। इस प्रकार समग्र कवि-कर्म बिम्ब-विधान के अन्तर्गत सिमट जाता है।<sup>6</sup> “अपूर्वता”, “वक्रोक्ति”, “अतिशयोक्ति”, “श्लेष”, “श्रौपम्य” आदि वाक्य-वक्रता अर्थात् अलंकार जीवातु का पर्याय है — अलंकार भी रस और ध्वनि के सहज और अविभाज्य अंग हैं। प्रतिभावान् कवि जब “समाहितचेतसः” होकर काव्य-निर्माण में लीन होता है, तब “रसाक्षिप्त” और “अपृथग्यत्न निर्वर्त्य”, दुःसाध्य अलंकार ग्रहमहमिका-पूर्वक स्वयं दौड़ आते हैं।<sup>7</sup> कृतक ने अलंकारों को रचना का सहज अंग स्वीकार किया है<sup>8</sup> और इनका सम्बन्ध कवि की विदग्धता अथवा व्युत्पत्ति से जोड़ा है। इस प्रकार प्रतिभा और व्युत्पत्ति से संभूत अलंकार और बिम्ब पर्याय ठहरते हैं और इनके अन्तर्गत उच्च और उदात्त कल्पना, उक्ति-वैचित्र्य, वस्तु, गुण, स्वभाव, कार्य-व्यापार, घटना तथा भाव-मनोविकार के अलंकृत, प्रेषणीय और प्रभविर्षण रूप समाहृत रहते हैं। काव्य में इनसे विभावादि साधारणीकृत होते हैं और भाव देश और काल के संसर्ग से मुक्त।

इनके द्वारा ही रस के आस्वाद्य और आस्वाद रूप में निखार आता है और कवि की व्युत्पत्ति-मूलक संस्कृति और संस्कारों में उभार।<sup>1</sup>

महापुराणकार “उक्त विषया वस्तुत्प्रेक्षा-माला” के रूप में एक विराट् तथा स्वतः-संभवी भूर्ताभूर्त एवं श्लेष गुणोपेत गतिशील बिंब का संयोजन तब करता है, जब वह अपने एक प्रमुख पात्र की सौंदर्य-वृद्धि के स्वभाव की असामान्य वृत्ति के वर्णन की त्वरा प्रदर्शित करता है -

बड्ढइ परमेसरि विव्वदेह, णं बीयायं बहु तरणिय रेह ।  
 णं ललिय महाकइपयपउत्ति, णं मयणभावविण्णणजुत्ति ।  
 णं गुणसमग्ग सोहग्गयत्ति, णं णारिरूवविरयणसमत्ति ।  
 लायण्णवत्त णं जलहिबेल, सुरहिय णं चंपयकुसुममाल ।  
 थिर सुहव णं सप्पुरिसकित्ति, बहुलक्खण णं वायरणवित्ति ।

म. 70.9.5-10

अपभ्रंश के “वाईसर” कवि ने “प्रश्नोत्तर” एवं “ललित” से पुष्ट तथा “भारती” वृत्ति से गर्भित “दीपक” के रूप में एक स्वतःसंभवी संश्लिष्ट नीति बिंब का विधान तब किया है जब वह नारी के अन्तर्बाह्य वैषम्य के त्रिश्लेषण में प्रवृत्त हुआ है -

तं रिणसुरिणिवि दहवयणें वुच्चइ, अणवसु वि वसि किज्जइ जं रुच्चइ ।  
 किं विसभइयइ फणिमणि मुच्चइ, अणलसहु सिरि दूरेण पवच्चइ ।  
 सुहिसयणत्तणु पुरिरुपहुत्तणु गिरिमणियणत्तणु सइहि सयत्तणु ।  
 दूरयरत्थु सुणंतहं चंगउं, पासि अण्णसु वि दरिसियभंगउं ।

म. 71.21.6-9

अन्यत्र उसने “प्रश्नोत्तर” से तथा “विषयीचित्य” से विशिष्ट “प्रतिवस्तूपमा-माला” के रूप में स्वतःसंभवी एक सुन्दर एवं विराट् बिंब का निर्माण तब किया है, जब वह अपने एक पात्र की महत्ता के आकलन में अग्रसर हुआ है -

किं किज्जइ दीवउ तुच्छछवि, जइ अंधयार रिण्ठवइ रवि ।  
 किं किज्जइ हरिणु अधीरमइ, जइ लडभइ सीहकिसोर पइ ।  
 किं किज्जइ वाइसु जइ गरुल, सुपसण्णु होइ बहुबाहुबल ।  
 किं किज्जइ खरू जइ बुद्धरहु, पाविज्जइ कंधर सिंधुरहु ।  
 किं किज्जइ पिप्पसु सलसलित्ठ, जइ दीसइ सुरतरवर फलित्ठ ।  
 किं किज्जइ राहउ मुद्धि तइ, रावणमहिलत्तणु होइ जइ ।

म. 72.11. 1-6

“महापुराणु” में “यमक”, “वर्ण-विन्यास-वक्रता”, “प्रश्नोत्तर”, “विचार्यमाण-चमत्कार”, “सूक्त-कदेश-चमत्कार” और “शब्द-चमत्कार” से पुष्ट एवं “वाक्य-वैशिष्ट्य व्यंग्य” गर्भ “दृष्टान्तमाला” के रूप में एक स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्र का आधान तब हुआ है, जब वहाँ प्रमुख पात्र के चित्त-सारल्य की व्यञ्जना के रूप-विकृत क्रिया गया है -

धरिओ वि करग्गहु एणीसरइ, कहि वेसायणु कहि एणीसरइ ।  
 रिणदइयहु कि करि चडइ रिणहि, कहि कवडहरिणु कहि बंधविहि ।

म. 72.4. 11-12

उसी पात्र की गंभीर प्रकृति के बीज को भी सदृश काल्पनिक चित्र की सहायता से व्यक्त किया गया है -

मयरहरहु मलु दूसणु जिणहु अमयडु विसु कि सीसइ ।  
 गुणवंतहं दसरहतणुहहं दुज्जणु को वि ए दीसइ ।

म. 70.20. 9-10

हमारे कवि ने "अर्थान्तरन्यास-विशेष" द्वारा "सामान्य का समर्थन" के रूप में एक स्वतःसंभवी उपपन्न चित्र तब खड़ा किया है जब उसे सामान्य वृत्ति के रूपविधान का अवसर हाथ लगा है -

परहु ए देइ मणु अबसें मउलइ सकलंकहो ।  
 फुल्लइ पउमिणिय करफसें कहि मि मियंकहो ।

म. 74. ध्रुवकं

और "काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य", "अर्थान्तर-न्यास" और "देहरी-दीपक" समलंकृत तथा "दृष्टान्त" से पुष्ट एक समान बिंब का विधान तब हुआ है जब वह अपने नायक के प्रताप का शब्द-चित्र उरेदने में तत्पर हुआ है -

कंपइ महि - संचारें ससरसरासणहत्थहं ।  
 संकइ जमु जमवूउ को एउ तसइ समत्थहं ।

म. 69.13. 10-11

पुष्पदंत ने अनुज्ञा के रूप में अपने प्रतिनायक की दुरासक्ति की व्यंजना तब की है, जब उसके क्रोधाविष्ट होने पर भी वह उसकी आंतरिक सहानुभूति को व्यक्त करना नहीं भूला है -

पइं सीइ अज्जु तिलु तिलु करमि भूयहं देमि दिसाबलि ।  
 पर पच्छइ दूसह होइ महं विरहजलणजालाबलि ।

म. 73.21. 12-13

आगे "अनुक्त-विषया-वस्तुत्प्रेक्षा" के रूप में एक ललित कल्पना-चित्र का प्रयोग अब मिला है, जब हमारा कवि नायिका की "आशंका" की व्यंजना में तत्पर हुआ है -

पइवय परपइवयभंगभय, यं पवरों पाडिय ललिय लय ।  
 भत्तारविओयविसंढुलिय, विहिवस सिलसंकडि पक्खलिय ।  
 णं कामभल्लि महियलि पडिय, एं बाउल्लिय कंचणघडिय ।

म. 72.7. 6-8

यहीं "उक्त-विषया-वस्तुत्प्रेक्षा-माला" के रूप में "अर्थव्यक्ति" एवं "समता गुण सहवर्ती नायिका" के "हर्षातिरेक" व्यंग्यचित्र का निर्माण हुआ है, जब कहा गया है -

आरिण्य मिलिय देवि बलहद्दहु, अमरतरंगिणि णाइ समुब्दहु ।  
 हेमसिद्धि णावइ रससिद्धहु, केवलणाणरिद्धि णं बुद्धहु ।  
 दिव्ववाणि जारिण्य परमत्थहु, वरकइमइ णं पंडियसत्थहु ।  
 चित्तसुद्धि णं चारुमुण्डहु, णं संपुण्णकंति छरण्यंद्दहु ।  
 णं वरमोक्खलच्छि अरहंतहु, बहुगुणसंपय णं गुणवंतहु ।

म. 78.27. 10-14

पुष्पदंत “प्रश्नोत्तर” और “तिरस्कार” से पुष्ट तथा “सौकुमार्य” गुण सहवर्ती “प्रतिवस्तूपमा-माला” के रूप में एक व्यापक कल्पना-चित्र की उद्भावना तब करता है, जब वह नायिका से सम्बन्धित प्रतिनायक की “चिन्ता” की व्यंजना करता है -

किं गरलवारिभरियइ सरीइ, किं सविसकुसुममयमंजरीइ ।  
 बंधवयणहियवियारणीइ, किं जायइ धीयइ वइरिणीइ ।

म. 70.7. 7-8

नीचे “द्वितीय विशेष” के रूप में कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध “प्रलाप” बिंब का आयोजन हुआ है, जब उसने कहा है -

जहि जाइ तहि जि सो सीय रिण्यइ, वारिज्जइ ढुक्की केण रिण्यइ ।  
 अंधारए वि संमुहउं घडिउं, सीयहि मुहुं पेक्खइ विसिहि जडिउं ।  
 पाणिउं वि पियइ सो तहि ससीउ, परवसु वट्टइ वीतइगीउ ।

म. 73.19.10-12

और “यमक”, “वर्ण-विन्यास-वक्रता”, “उपमा” और “तृतीय निदर्शना” से पुष्ट “तृतीय विषम” के रूप में एक कल्पना-चित्र का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि नायक की “व्याधि” और “संज्वर” की “माधुर्य” गुणोपेत व्यंजना नीर-क्षीर के सदृश घुल-मिल गये हैं -

तं रिणुणिवि मुच्छिउ पडिउ रामु, जलसिचिउ उट्ठिउ खामखामु ।  
 सीयलु विसु विसु व ण संति जणइ, हरियंदणु सिहकुलु अंगु छणइ ।  
 णस्सिणु वि सूरहु सयणत्तु वहइ, सयणीयलि घित्तउ देहु डहइ ।  
 पियविरहु जलट्टइ सिहि व जलइ, चमराणिलु तामु सहाउ घुलइ ।  
 सरू गेयहु वइरिविमुक्कसरू क्वु कायकव्वासउ ।  
 विण सीयइ भावइ राहवहु णाडउ णाडयपासउ ।

म. 73.3. 7-12

आलोच्य कवि “यमक” तथा “वर्णविन्यासवक्रता” से पुष्ट “बिम्बप्रतिबिंबोप-माला” के रूप में एक सजीव कल्पना-चित्र का निर्माण तब करता है, जब वह युद्ध के कार्य में तथा व्यापार के वर्णन में तत्पर होता है -

सरपुंखहि भमरेंहि व मंडिय, जिह वरिण तरु तिह ते रणि खंडिय ।  
जिह वेल्लिउ तिह अंतइं छिण्णइं, जिह पत्तइं जिह पत्तइं भिण्णइं ।  
जिह ताडहलइं तिह रिउसीसइं, पाडियाइं घरणीयलि भीसइं ।  
जिह उज्जाणहु राट्ठइं चक्कइं, तिह रिउरहवरि भग्गइं चक्कइं ।  
जिह सर तिह बिद्धंसिय रिउसर, लंकाण्यरि पइट्ठा वाणर ।

म. 76.8. 8-12

और वह “एकदेश-विवर्ति-रूपक” के रूप में एक ललित कल्पना का प्रयोग तब करता है, जब वह द्वंद्व के व्यापार-व्यारे के वर्णन में अग्रसर होता है -

पडिभडकालाणलु जोइयभुयबलु विप्फुरंतु मच्छरि चडिउ ।  
महिकरिणिकयग्गडु पसरियविग्गहु कण्हु दसासहु अग्भिडिउ ।

म. 78/ध्रुवकं

“उक्त-विषयावस्तुत्प्रेक्षा-माला” के रूप में पाँच विभिन्न कल्पनाओं का प्रयोग तब हुआ है जब नायक और नायिका के वैवाहिक कार्य तथा व्यापार के वर्णन का एकतान उपक्रम हुआ है -

वइवेहि धरिय करि हलहरेण, एं विज्जुल भवलें जलहरेण ।  
एं तिहुयणसिरि परमप्पएण, एं णायवित्ति पालियपएण ।  
एं चंदें वियसिय कुसुममाल, गोविन्दें एं सिरि सारणाल ।

म. 70.13. 1-3

वह एक “लिंगवैचित्र्यवक्रता” से पुष्ट प्रभावोत्पादक सदृश-कल्पना चित्र का निर्माण तब करता है जब वह अपनी ऊँची सहानुभूति के साथ निर्जीव पदार्थों में भी किसी अभिप्राय विशेष के कारण प्राण-संचार करने का कार्य तथा व्यापार अपने हाथ में लेता है -

बाहसलिलधारहि वरसंति व, तूरइं दुहभिण्णाइं रसंति व ।  
हउ कट्ठे घडियउ चम्मं मडियउ परकरताडणु जं सहमि ।  
णं एउं सजुत्तउं पडहें वुत्तउं तं दसामु महिवइ महमि ।

म. 78.25. 13-15

“यमक” और “वर्ण-विन्यास-वक्रता” से पुष्ट सूक्ष्म के रूप में एक गूढ़ कल्पना का उपयोग तब मिलता है, जब उसे एक पात्र का “सोद्वेग” कलात्मक रति व्यापार काम्य रहा है -

कर मउलिवि सण्णइ का वि पोमु, आवेसमि जावहि सुबइ पोमु ।

म. 70.19.10

आगे कवि ने “स्वभावोक्ति” के रूप में एक प्रसन्न गतिशील विशद चित्र का विधान तब किया है, जब वह एक वन्य मृग के मनमोहक व्यापार को चित्रित करने के लिए उद्यत हुआ है -

पविरलपएहि लंघंतु महि, लहु धावइ पावइ बासरहि ।  
 थोवंतरि मराहह जाइ जवि, कह कह व करंगुलि छित्तु रा वि ।  
 पहु पाणि पसारइ किर धरइ, मायामउ मउ अगइ सरइ ।  
 दूरंतरि रियतणु दक्खवइ, खेलइ दरिसावइ मंडगइ ।  
 रावदुवाकंदकवलु भरइ, तरुवरकिसलयपल्लव चरइ ।  
 कच्छंतरि सच्छसलिलु पियइ, वंकियगलु पच्छाउहुं रियइ ।  
 सुयचंचुधायपरियलियफल, खणि दीसइ चंपयचूयतलि ।  
 खणि वेल्लिणिहेलणि पइसरइ, अण्णण्णपएसहि अवयरइ ।

म. 72.4. 1-8

हमारा कवि “बालि-वघ” विषयक “असुन्दर व्यंग्य” गभित घटनाओं को सरस रूप प्रदान करने के लिए “न्यायत्व”, “विषयौचित्य” और “श्लेषगुण” तथा “पांचाली रीति” तथा “मध्यम-मार्ग” से सहवर्ति “सांगरूपक” का उपयोग करता है —

महिरूढउ वारियसुरकह, कामिणिवेल्लिविलासधर ।

तुहुं देव पयावहुयासणिण हेलइ दड्डउ वालितर ।

75.9. 9-10

और अन्यत्र —

रणसरवरि ह्यमुहफेणजलि सोणियधाराणालचलु ।

असिचंचुइ लक्खणलक्खणिण तोडिउ वालिहि सिरकमलु ।

म. 75.8. 14-15

आगे वह “माधुर्य”, “सौकुमार्य”, “लावण्य”, और “सौभाग्य”, गुण, “केशिकीवृत्ति” “वक्तृश्रौचित्य”, “वैदर्भी रीति”, “सुकुमार-मार्ग”, “रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता” और “अन्योक्ति” से पुष्ट अपह्नुति के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना का चित्र तब प्रस्तुत करता है, जब वह राम कथा के “बीज” अर्थप्रकृति सम्बन्धी फलपरक घटना पर वितर्कपूर्वक विचार करता है —

अज्जु मिलंतु मच्छ मंडाइणि वहउ ससंकपंडुरा ।

पइं मुइ खेरारद कह होसइ सा रावधुसिणपिजरा ।

णारउ णाउ आउ णासणविहि, सीय ण हित्त हित्त परियणविहि ।

रामु ण कुद्धु कुद्धु जगभक्खउ, लक्खणु ण भिडिउ भिडिउ कुलक्खउ ।

चक्कु ण मुक्कु मुक्कु जमसासणु, तं णउ लग्गउ लग्गु हुयासणु ।

वच्छु ण भिण्णु भिण्णु धरणीयलु, रहिरि ण गलिउ गलिउ सज्जणबलु ।

तुहुं णउ पडिउ पडिउ कामिणिणणु, तुहुं ण मुओ सि मुउ विहलियजणु ।

चेट्ठ ण भग भग लंकाउरि, विट्ठि ण सुण्ण सुण्ण मंडोयरि ।

म. 78.24. 1-8

“महापुराणु” में “विचार्यमारा चमत्कार” और “प्रबंधौचित्य” से गभित तथा “पदार्थ दीपक” और प्रसन्न “श्लेष” से पुष्ट “उक्त-विषया-वस्तुत्प्रेक्षा-माला” के रूप में एक बहु विभ्राट् एवं “सन्दर्भसमुच्चय” पूर्ण कविप्रौढोक्तिसिद्ध बिंब वहाँ मिलता है, जहाँ “सीता-हरण” और “दिवसावसान” विषयक घटनाओं के “वक्तृ श्रौचित्य” एवं “गौडी रीति” से युक्त सहवर्णन मिलता है —

एत्तहि विसंति अत्थइरिसाणु, संपत्तउ लहु अत्थमिउ भाणु ।  
 णरतिरियणायणपसरणु हरंतु, चक्कउलहं तणुतावणु करंतु ।  
 णं विसइ लइउ रइरसणिहाउ, णं रिणणट्ठउ रावणपयाउ ।  
 णं रइउ समुद्वे रयणसंगु, णं महिइ गिलिउ रहरहरहंगु ।  
 देउ वि वारणिसंगेण पडइ, णं इयभणंतु पक्खिउलु रडइ ।  
 गच्छन्तु अहोमुहु तिमिरमंथु, णं दावइ णरयहु तणउ पंथु ।

म. 73.1. 3-8

ऐसे ही “केशकीवृत्ति” एवं “वैदर्भी रीति” गभित तथा “श्लेषादि गुण” से युक्त वैविध्यपूर्ण चित्र का उद्घाटन तब हुआ है, जब उसके प्रसिद्ध पात्र के निधन की घटना का वर्णन प्रस्तुत हुआ है -

काले कवलिउ महिअद्वराउ, णं हित्तउ कामिणिरइणिहाउ ।  
 णं णासिउ बंधवसोक्खहेउ, अच्छोडिउ णं रहुवंसकेउ ।  
 णं मोडिउ सुरतरुवरु फलंतु, उल्हविउ पायावाणलु जलंतु ।  
 रिउसीसणिवेसियपायपंसु, उड्डाविउ जगसररायहंसु ।

म. 79.11. 6-9

आलोच्य ग्रंथ में “प्रसाद गुण” और “वक्तृ औचित्य” से विशिष्ट ‘वैधर्म्यमूलक’ दृष्टान्त के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पनाचित्र का प्रत्यक्षतब होता है, जब कवि अपने एक पात्र द्वारा न्यस्त राम-कथा की बीज अर्थ-प्रकृति से सम्बन्धित घटना के वर्णन में प्रवृत्त होता है -

सा तुज्झु जि जोगी, लयललियंगी हिप्पइ मड्डइ किंकरहं ।  
 सुरसरि भसमुद्वहु होइ समुद्वहु णउ जम्मि वि पंयसयरहं ।

म. 71.2. 11-12

ऐसा ही एक “वक्तृ-औचित्य” और “उल्लवण रचना” से विशिष्ट अर्थान्तरन्यास-विशेष का सामान्य से साधर्म्यपूर्वक समर्थन के रूप में एक उदात्त कल्पना का प्रयोग तब दीख पड़ता है, जब सूर्यास्त संबंधी घटना का विमर्श आरम्भ हुआ है -

गउ अत्थवरणहु कंदोट्टजूरु, करसहसेण वि णउ धरिउ सूरु ।  
 रिणवडंतु जंतु हेट्ठामुहउ रवि किं एककु भणिज्जइ ।  
 जगलच्छीमंदिरणिगयाहि मंदीहि को रक्खिज्जइ ।

म. 73.2. 12-14

हमारा कवि “पर्यायवक्रता”, “आनुरूप्य” और “अनाकुलत्व” से विशिष्ट “काव्यलिग” के रूप में एक “कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध” प्रसन्न चित्र का निर्माण तब करता है, जब वह दो प्रतियोगियों की एकावस्थानरूप घटना के वर्णन में प्रवृत्त होता है -

जहिं अच्छइ रिणयडपरिट्ठियउ अंजणतणुरुहु बालउ ।  
 तहिं दहमुहु रइसुहु कहिं लहइ वम्महु जहिं पडिक्कलउ ।

म. 73.19. 14-15

उतने “न्याय” और “प्रसाद गुण” से विशिष्ट “प्रथम समुच्चय” के रूप में एक चमत्कारपूर्ण कल्पना-चित्र का विधान तब किया है, जब वह परदारा-परित्याग सम्बन्धी घटना को अनेक प्रकार के तर्कों द्वारा बल देने की चेष्टा में अग्रसर हुआ है—

वज्जावत्तरासराहत्थहु, दिज्जउ धरिणि देव काकुत्थहु ।  
चक्कपसुइ ण चंगउं दावइ, लक्खणु वासुएउ महुं भावइ ।  
अण्णहु किक्किधेसु ण रप्पइ, अण्णहु किं रणि वालि समप्पइ ।  
अण्णहु मारइ किं घर आवइ, किं पण्णत्तिविज्ज परिधावइ ।  
अण्णहु पंचयणु किं वज्जइ, अण्णु एवं किं लच्छिइ छज्जइ ।  
अण्णे धरणिधेणु किह बज्भइ, गारूडविज्ज ण अण्णहु सिज्भइ ।

म. 76.3. 5-10

ऐसा ही “आनुरूप्य” और “अनाकुलत्व” से विशिष्ट तथा “प्रश्नोत्तर”, “ललित” और “प्रतिवस्तूपमा” से पुष्ट “लोकोक्ति” के रूप में एक प्रसादगुण युक्त रमणीय वाक्य-विन्यास का संयोजन तब दीख पड़ा है जब कथा के एक अत्यन्त शक्तिशाली पात्र की विस्मयकारी मृत्यु सम्बन्धी घटना का विधान हुआ है—

किह कुलिसु वि घुणेहिं विच्छिण्णउं, तुज्भु वि मरणु केव संपण्णउं ।

म. 78.24.12

हमारा कवि “कांति” और “यमक” से पुष्ट “बिंब-प्रतिबिंबोपमा” के रूप में प्रौढोक्तिसिद्ध एक विस्तृत संदर्भ तब संघटित करता है, जब वह अपने एक पात्र की विरह दशा की सूचना देने में प्रवृत्त होता है—

सीयादेवि देव दीहुण्ह णीससंती ।  
सुअरइ तुह पयाइं भत्तारभत्तिवंती ।  
सिरि व उर्विदहु, सरि व समुद्वहु ।  
मेत्ति व णेहहु, मोरि व मेहहु ।  
भमरि व पोमहु, संति व सामहु ।  
करिणि व पीलुहि, करहि व पीलुहि ।  
विउत्ति व छेयहु, हरिणि व गेयहु ।  
णववरणकंतहु, जेव वसंतहु ।  
सुअरइ कोइल, धीरत्ते इल ।  
जिणगुण जाणइ, तिह तुह जाणइ ।

74.1. 1-10

ऐसे ही उसने “विचार्यमाण चमत्कार”, “उपचार”, “श्लेष गुण”, और “वासवीय समाधि गुण” से विशिष्ट तथा “सभंग” यमक “मध्य-श्रुत्यनुप्रास”, “श्लेष”, “लोकोक्ति” और उपमा से पुष्ट “सांगरूपक” के रूप में एक मुद्रा चित्र का निर्माण तब किया है जब वह “उल्वण” एवं “समासबहुला” पदावली में अपने प्रमुख पात्र के ओजपूर्ण मन और अलंकृत शरीर के वर्णन में समुद्यत हुआ है—



तो हलि हरि जयकारिवि चलिउ, तणुभूसरणमणियरसंबलिउ ।  
 ताराबलिहाराबलिउरहि, उत्तंगहि तुंगपयोहरहि ।  
 पविमलपसप्पणदिसवयणियहि, चंदककमणोहरणयणियहि ।  
 आहंडलधणु उप्परियणहि, रंजियविज्जाहरणमणहि ।  
 एहलच्छिहि उवरि बेंतु पयइं, पडिसुहडहं संजणंतु भयइं ।  
 संखपंतिदसणु बडवाणलजालाकेसर ।  
 वेलापुंछुचलु मणिएणएणहू सोहू व भासर ।

74.6. 7-13

आगे वह “विचार्यंमाण” शब्द और “प्रख्यातवृत्ति” चमत्कार तथा कांति गुण से विशिष्ट एवं “यमक” “वर्ण-विन्यास-वक्रता” और लाटानुप्रास से पुष्ट “ध्वनि-रूपक” के रूप में एक कल्पना-चित्र की उद्भावना तब करता है जब वह पात्र और प्रकृति के रूप को अभेद सादृश्य के सहारे एकावस्थित करने की चेष्टा करता है —

गिरि सोहइ बरवणवारणोहि, पहु सोहइ वारिणिवारणोहि ।  
 गिरि सोहइ उडिड्यवाणरोहि, पहु सोहइ खगधयवाणरोहि ।  
 गिरि सोहइ एवबाणसणोहि, पहु सोहइ भडवाणसणोहि ।  
 तहि पुव्वकोडिसिल विट्ठ तेहि, पुज्जिय बंदिय हरिहलहरोहि ।

79.1. 3-7

और आगे वह “रस-चमत्कार” और “कोटि-गुण” से “विशिष्ट भ्रांतिमान्” के रूप में एक रमणीय कल्पना-चित्र का उपयोग तब करता है, जब वह जल-केल में मग्न अपने एक पात्र के चमत्कृत “मौग्ध्य-विलास” का चित्रण करता है —

पत्तिणिएपत्तइ पेच्छिवि जलकरण, हारु ण तुट्टउ भवलोइय थण ।  
 क वि ण इच्छइ जलपक्खालणु, कज्जलतिलयपत्तपक्खालणु ।

म० 71.17. 8-9

हमारे कवि ने ‘श्लेष गुण’ से पुष्ट “उक्तविषया वस्तुत्प्रेक्षामाला” के रूप में एक त्रैविध्यपूर्ण संदर्भ की उद्भावना अपने एक पात्र के अभिज्ञान पर विचार-विमर्श के सिलसिले में की है —

अइउक्कंठिएण धरणीसें सज्जणदिण्णजीययं ।  
 ता विट्ठ मयच्छिथणकुंकुमपिजरु उत्तरीयं ।  
 बीसइ वंसग्गविलंबमाणु, णं रिउ गयगयणंगणणिवानु ।  
 णं दावइ कंतहि तरिणय वट्ट, इह दहमुहमारीयइं पयट्ट ।  
 णं उडिभिय सीयइ सइवडाय, तं लेप्पिणु किकर भत्ति आय । म. 73.5. 1-5

आगे का आलोच्य दाह-संस्कार का संदर्भ मध्यश्रुत्यनुप्रास युक्त वर्ण-चित्र है —

छइयकेउसोहो णयणचारुहो, जणियलोयवसणो ।  
 चउइ गयणि धूमो रावणस्स भीमो दुज्जसो व्व कसणो ।  
 धूमंतरि बालोलिउ, ण एवमेहमडिभ विज्जुलियउ ।  
 पुणु वि ताउ सोहंति पईहउ, णं चामीयरतरुवरसाहउ ।  
 संदाणियसीमंतिणिवेहउ, सिहिरणा पसरियाउ णं बाहउ । म० 76.9. 1-5

और ऐसा ही एक “यमक” तथा “विचार्यमारा - चमत्कार” से पुष्ट रंग-चित्र का संयोजन वह युद्ध के लिए निर्गत अपने एक पात्र के वर्णन के उपक्रम में करता है -

वीसइ शीसरंतु रइयाहउ, अंजणगिरिकरिवरि थिउ राहउ ।  
 एं रावजलहरसिहरि ससंकउ, णं अइरावइ इंडु असंकउ ।  
 एं जसु तिजगसिहरि पंडुरतणु, धम्मालोयलीणु मुणिएमणु ।  
 कयसरसोहउ एणइ मरालउ, सूरपहाहए एणइ मरालउ ।  
 सीयाकरंबउ विरहुण्हें हउ दाणालित्तपाणिए एं दिग्गउ ।

म० 78.3. 4-8

उसने एक अन्य स्थान पर रंग वैभिन्न्य को भी “मूर्तामूर्त” “उक्त विषया वस्तुत्प्रेक्षामाला” का विषय बनाया है यथा -

रेहति वे वि बलएव हरि, एं तुहिरणगिरिदंजरिसिहरि ।  
 एं गंगाजउराजलपवह, एं लच्छिहि कीलारमरावह ।  
 एं पुणए मणोरह सज्जणहं, एं बम्मवियारण बुज्जणहं ।

म० 69.13 1-3

पुष्पदंत ने “समता”, “कांति” और “अर्थव्यक्ति” गुण से विशिष्ट तथा “श्रुत्यनुप्रास” से पुष्ट “दीपक” के रूप में एक सुन्दर कल्पना-चित्र की उद्भावना तब की है, जब वह तथ्य विश्लेषण की ओर बढ़ा है -

गुणदूसणु अप्पपसंसणउं, तवदूसणु मिच्छाबंसणउं ।  
 एणडदूसणु एणिरसपेक्खणउं, कइदूसणु कठवु अलक्खणउं ।  
 धणदूसणु सडखलयणभरणु, वयदूसणु असमंजसमरणु ।  
 रइदूसणु खरभासिएण जुवइ, सुहिदूसणु पिसुणु विभिण्णामइ ।  
 सिरिदूसणु जडु सालसु णिवइ, जणदूसणु पाउ पत्तकुणइ ।  
 गुरुदूसणु णिवकारणहसणु, मुणिएदूसणु कुसुइससमभसणु ।  
 ससिदूसणु मिगमलु मसिकसणु, कुलदूसणु एणंदणु दुव्वसणु ।

म० 69.7. 2-8

और अन्यत्र वह “ओज गुण” तथा “प्रश्नोत्तर” से पुष्ट “प्रतिवस्तूपमा-माला” के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना-चित्र का निर्माण तब करता है, जब वह अपने एक पात्र की “असूयावृत्ति” को उभारने में प्रवृत्त होता है -

सरह सीह को वणिए संधारइ, काल कयंत वे वि को मारइ ।  
 चंद सूर को खलइ राहंगणिए, हरि बल को णिएहरणइ समरंगणिए ।  
 केसरिकेसच्छड़ा को छिप्पइ, जाणइ केण एणराहिब हिप्पइ ।

म० 71.3. 6-8

उसने “यमक”, “अतिशयोक्ति” और “लोकोक्ति” से पुष्ट अपह्नुति के रूप में एक मौलिक चित्र की उद्भावना तब की है जब उसका एक पात्र अपने वाक्कौशल से अपना समर्थन करता है -

इसी प्रकार “उक्तविषया वस्तुतःप्रेक्षा-माला” के रूप में उसके एक पात्र की आत्म-प्रक्षेपण संबंधी मनोवृत्ति अभिव्यंजना खोज रही है—

जोयइ चित्तकूडु रांदरणवणु, रां महिमहिलहि केरउं जोव्वणु ।  
महुधारहि सित्तउं रावइ मत्तउं मलयाणिलसंचालिउ ।  
रावतरवर साहहिं पसरियबाडहिं णं राच्चंतु रिहालिउं ।

म. 71.11. 10-12

“चतुर्थ प्रतीप” का चमत्कार आदर्श राजा के निदर्शन में खुला उभरा है—

तहिं वसइ घयावइ पयवइ पयधरणु, जे दंडे जित्तउं जमकरणु ।  
जे सत्थे जित्त सरासइ वि, जे बुद्धिइ चित्तउ भेसइ वि ।  
जे रिद्धिइ जित्तउ सुखइ वि, जे भोएं जित्तउ रइवइ वि ।

म. 69.4. 6-8

रामायणकार “शब्द चमत्कार” से पुष्ट “पंचम प्रतीप” के रूप में अपने एक दृढ़ विश्वास को अतिमात्रा में कारणता तब प्रदान करता है, जब वह अपनी नायिका के नख-शिख सौंदर्य की लोकोत्तरता को “इयरहकह” की कलात्मक पुनरुक्ति के साथ यथाक्रम समान अन्तर पर तेईस अर्द्धालियों में इस प्रकार अनुस्यूत करता है—

पयकमलहं रत्तरत्तणु जि होइ, इयरह कह रंगु वहति जोइ ।  
गुंफहं पुणु गूढत्तणु जि चार, इयरह कह मारइ तिजगु मार ।

म. 70.10. 1-2

भालयलु वि-अर्द्धिडु व वरिदूठ, इयरह कह तहु मयणासु विदूठ ।  
कोतलकसाउ कुडिलत्तु वहइ, इयरह कह माणवबंडु वहइ ।

म. 70.11. 8-9

ऐसे ही “वीप्सा” और “ललित” से पुष्ट “काक्वाक्षिप्त व्यंग्य” से उपकृत और “तिरस्कार”, “समता” तथा “ओज” से गर्भित “दीपक” के रूप में एक वैविध्य चित्र का विनिवेश यह तब करता है, जब वह छह भौतिक संभावनाओं के द्वारा अपने नायक के अनुपमेय ऐश्वर्य के प्रति निष्ठा व्यक्त करता है—

कि किज्जइ हरिणु अधोरमइ, जइ लब्भइ सीहकिसोरु पइ ।  
कि किज्जइ दीवउ तुच्छछवि, जइ अंधयारु रिण्टवइ रवि ।  
कि किज्जइ वाइसु जइ गरुलु, सुपसणु होइ बहुबाहुबलु ।  
कि किज्जइ खरु जइ दुद्धरहु, पाविज्जइ कंधरु सिधुरहु ।  
कि किज्जइ पिप्पलु सलसलिउ, जइ वीसइ सुरतरवरु फलिउ ।  
कि किज्जइ राहउ मुद्धि तइ, रावरणमहिलत्तणु होइ जइ ।

म. 72.11. 1-6

और “मिथ्याध्यवसिति” के अनवसर प्रयोग का एक उदाहरण तब मिलता है जब वह अत्यन्त घनीभूत एवं आपद-मूलक परिस्थितियों के चक्रवात से संभूत तथा भौतिक संदर्भों से सहवर्तित सात सदृश “आशंका” चित्रों को अपने उदात्त नायक के नैराश्य से जोड़ता है -

ता चिंताविड मरिण रामएउ, एककु जि सिहि अण्णु वि वायवेउ ।  
 एककु जि रवि अण्णु जि गिभयालु, एककु जि तमु अण्णु जि मेहजालु ।  
 एककु जि हरि अण्णु जि पक्खरालु, एककु जि जमु अण्णु पुण्णकालु ।  
 एककु जि विसि अण्णु जि सबिसविट्ठि, एककु जि सरिण अण्णु जि तहिं मि बिट्ठी ।  
 एककु जि दहमुहु बुद्धर विरुद्धु अण्णुक्कु तहिं जि बलिपुत्तु कुद्धु ।

म. 75.4. 1-5

हमारा कवि “काक्वाक्षिप्त व्यंग्य” से उपकृत “विशेषापहनुति” के रूप में एक सीमंत स्पर्शी ओजपूर्ण ऐश्वर्य चित्र का निर्माण तब करता है जब वह अपने एक विग्रह के बीज-वपन में सिद्धहस्त पात्र द्वारा आगे की छह अर्द्धालियों में प्रतिनायक की “गर्व” मिश्रित “असूया” को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करता है -

सिहि एं करइ तुहारउं भाणसु, उहु वइवसु वइरिहिं तुहुं वइवसु ।  
 एरिउ एरियदिस सा रुंभइ, जाव एण तुज्झु पयाउ वियंभइ ।  
 रयणायरु जं गज्जइ तं जडु, तुहुं जि एककु तइलोकिक महाभडु ।  
 वाउ वाइ किर तुह एणिसासैं, बज्झइ फणिवइ तुह फणिसासैं ।  
 चंडु सुए किर तुह परबीवउ, सीहुबराउ वसउ वणि सावउ ।  
 समुह सणएर खगु जगु तुह बीहर, पर पइं जिणिवि एककु जसुईहइ ।

म. 71.2.1-5

ऐसी ही एक युक्ति का उपयोग “वस्तूप्रेक्षा”, “व्यतिरेक” और “प्रतीप” से पुष्ट एवं “गर्व” तथा वितर्क से संश्लिष्ट “भ्रम” के रूप में कवि तब करता है जब वह अपने नायक के अन्तःपुर से सम्बन्धित तथा विविध गति व्यापार एवं रेखा-रंग से रंजित एक सौंदर्य चित्र के आलेखन में प्रवृत्त होता है -

काइ वि जणणयणहं रुच्चंतिइ, मोरें सहुं सहासु एणच्चंतिइ ।  
 सोहइ कमलु दुवासिंहि घरियउं, एणलंताल्लिपिच्चविच्चु रियउं ।  
 एणइं कंडु रइणहहु केरउ, दाबइ सुरणरहियवियारउ ।  
 काइ वि समउं वि हंसु चमक्कइ, गइलीलाविलासि सो चुक्कइ ।  
 काहि वि छप्पउ लगउ करयलि, जडु अण्णउं मण्णइ थिउ सयबलि ।  
 काहि वि णियउउं णं ओलण्णइ, एणउ दीहकउक्खिउ मण्णइ ।  
 काइ वि उण्णलु सबणि णिहित्तउ, कुम्भाणउं णं णयणिंहि जित्तउं ।

म. 71.14.17

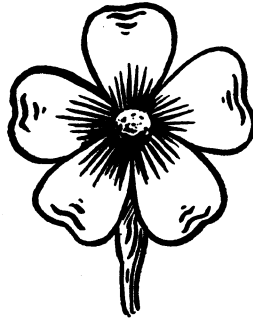
और आगे की पाँच अर्द्धालियों का संमिश्रित क्रिया और रंग-समुच्चय कितना मनोहारी है -

का वि कुंदकुसुमई गियदंतहिं, जोयइ दप्परिण समउ फुरंतहिं ।  
 बउलु परिकखइ गियतणुगंधें, बिबोहलु अहरहु संबंधें ।  
 क वि फुल्लिउ साहारु गिरिक्खइ, बाली हरिसाहारणु कंखइ ।  
 जंपमाणु एवकलियइ मत्तउ, खरसंताउ एा मुणइ सइत्तउ ।  
 धरिउ ताइ रुसिवि मणदूसउ, अग्गिवणु जायउ मुहि पूसउ ।

म० 71.15. 1-5

पुष्पदंत का बिब-विधान में न कहीं जोड़ है और न तोड़ । वर्णन और दर्शन की पूर्ण लय है । चित्रांकन के रंग हैं । स्थापत्य का निदर्शन है और मूर्तिकला की बारीकी । सभी संश्लिष्ट, सभी संप्रेषणीय ।

1. वर्ल्ड अर्व इमेजरी-स्टीफेन जे० ब्राउन, पृष्ठ 1-2
2. पॉयटिक इमेज-सी.डे. व्युस, पृष्ठ 22
3. काव्य प्रकाश-1/3, का.
4. लोचन-काव्य दर्पण-पृष्ठ 41 (पा० दि०)
5. रस गंगाधर-वि०स०भा०, पृष्ठ 25
6. लिटरेरी इमेज-अर्व एजरा पाउंड, पृष्ठ 10
7. हिन्दी ध्वन्यालोक-2/16, पृष्ठ 145-47, एस्थेटिक अ० 9
8. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित-1/10, पृष्ठ 51
9. दिनकर-एक पुनर्मुल्यांकन, विजेन्द्र नारायण सिंह, इलाहाबाद, सन् 65, पृष्ठ 10



## लोभी जीव

रिणु मग्गमाण हि डंति पुरे, जणरंजणु पत्तु करेवि करे ।  
 रिणव्वरयरु पूयफलु खंति किह, एक्केण जि रवि अत्थवइ जिह ॥  
 पंचिदियत्थु सुहं खंचियउं, लुद्धहिं अण्णाणउ वंचियउ ।  
 जरचौरिणियासण फरुससिर, दालिद्विय सघण वि किविण रार ॥  
 ण वियाणइ दुक्कन्ती णियइ, णियहत्थहु हत्थु ण पत्तियइ ।  
 बंधइ मेल्लइ पुणु पुणु मवइ, वसु गुज्झपवेसहिं पुणु ठवइ ॥  
 सा सट्ठिं ण पूरइ किह भरमि, मणि जूरइ काइं दइव करमि ।  
 लोहिदठु दुटठु पाविदठु चलु, पाहुणयहु उत्तर देइ खलु ॥

घत्ता - गेहिणि गय गामहो इच्छियकामहो मणु णं भल्लिइ भिज्जइ ।

मज्झ वि दुक्खइ सिरु तुहं आयउ घर भणु एवाहिं कि किज्जइ ॥

अर्थ - लोभी जीव लोगों को रंजित करनेवाले पात्र को हाथ में लेकर नगर में उधार माँगता हुआ घूमता रहता है। वह सड़ी हुई सुपारी भी इस प्रकार खाता है कि उस एक ही सुपारी से सूर्य अस्त होजाय। लोभी जीव अपने को पाँचों इन्द्रियों के सुखों के भोग से समर्थ होते हुए भी वञ्चित रखता है। जीरा कपड़े की लंगोटी धारण करनेवाला और कठोर सिरवाला ऐसा जीव धनी होते हुए भी दरिद्री होता है। वह आती हुई नियति को नहीं जानता और अपने एक हाथ से दूसरे हाथ का भी विश्वास नहीं करता। वह अपने धन को बार-बार बाँधता है, रखता है, गिनता है और गुप्तस्थान में रखता है। वह कहता है - हा दैव ! साठ तो पूरे ही नहीं होते, क्या करूँ ? ऐसा विचारते हुए वह मन में बड़ा दुःखी रहता है। वह लोभी, दुष्ट, पापिष्ठ और चञ्चल जीव अपने घर आए अतिथि को इस प्रकार उत्तर देता है - "घरवाली गाँव गई है। मेरा इच्छितकाम मन मानो भाले से भिद रहा है, मेरा तो सिर दुख रहा है और तुम घर आये हो, बताओ ऐसे समय मैं क्या करूँ ?" - महापुराण : 19.2

# महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित महापुराण की बिम्ब-योजना

— डॉ० गदाधरसिंह



काव्य-बिम्ब पश्चिमी आलोचना-शास्त्र का मेरुदण्ड है। पश्चिमी आलोचकों ने इसका इतना सूक्ष्म एवं विस्तृत विश्लेषण किया है कि उनकी सम्पूर्ण चेतना ही बिम्ब से परिव्याप्त हो गयी है। “डाइडन” ने बिम्ब को कविता की उत्कृष्टता का मापदण्ड ही नहीं अपितु उसका प्राणतत्त्व स्वीकार किया है। “एज़रापाउण्ड” ने तो यहाँ तक कह दिया है— “बड़े-बड़े पीथे लिखने की अपेक्षा जीवनभर में केवल एक बिम्ब की रचना करना कहीं बेहतर है।”<sup>1</sup>

पश्चिमी आलोचकों की धारणा है कि बिम्ब के माध्यम से ही कवि आत्म-विवृति करता है, अपने भावाविष्ट क्षणों को प्रोद्भासित करता है। युग की धारणा के अनुसार काव्य के मानदण्ड मूल्य आदि बदलते रहते हैं पर बिम्ब एकरूप रहता है। रचयिता के सर्जनात्मक क्रिया-व्यापार का अर्थ है— बिम्ब। “वर्ड्सवर्थ” ने कविता को मनुष्य और प्रकृति का बिम्ब कहा है—

Poetry is the image of man and nature.

प्रारम्भ में “इमेज” शब्द का प्रयोग स्थूल रूप में प्रतिकृति आदि किया गया था। वह भारतीय अलंकार-शास्त्र के रूपक विधान की तरह था किन्तु बाद में उसे मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया। काव्य-बिम्ब के विशेषज्ञ “लेविस” ने इसके सम्बन्ध में कहा— “काव्य-बिम्ब एक प्रकार का भावगर्भित शब्द-चित्र है।”<sup>2</sup>

“डॉ० नगेन्द्र” ने बिम्ब पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार करते हुए लिखा है—  
 “बिम्ब पदार्थ नहीं है वरन् उसकी प्रतिकृति या प्रतिच्छवि है। वह मूल सृष्टि नहीं, पुनः सृष्टि है। यह एक ऐसा चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध होता है। सामान्य बिम्ब और काव्य-बिम्ब में अन्तर यह है कि काव्य-बिम्ब का निर्माण सर्जनात्मक कल्पना से होता है और इसके मूल में राग की प्रेरणा अनिवार्यतः रहती है।”<sup>3</sup>

भारतीय काव्यमीमांसा में बिम्ब का विवेचन प्रकारान्तर से हुआ है। यद्यपि काव्य के बिम्बात्मक रूप का विचार भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नई बात नहीं है और अलंकारवादियों तथा ध्वनिवादियों ने इसकी स्वरूपगत विशिष्टताओं को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया है किन्तु आधुनिक अर्थ में उसे विवेचित नहीं किया गया, यह सत्य है।

अलंकार-शास्त्र में दृष्टान्त और निदर्शना के प्रसंग में “बिम्ब” शब्द का प्रयोग हुआ है। जहाँ उपमेय, उपमान और सामान्य धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है और जहाँ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध उनके बिम्ब प्रतिबिम्ब का बोध करे वहाँ निदर्शना अलंकार है। यहाँ पर अप्रस्तुत प्रस्तुत का बिम्ब उपस्थित करता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय आधुनिक बिम्ब-विधान के सर्वाधिक निकट है। “आनन्दवर्द्धन” ने वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहा है और अंगना के अवयवों से सर्वथा भिन्न लावण्य से उसकी उपमा दी है :-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वारोषु महाकवीनाम् ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

“महाकवियों की वारिणियों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न अंगनाओं के लावण्य के समान अलग ही प्रकाशित होता है।”

काव्य का विभावन व्यापार मूर्त्त पक्ष है और अभिधेयार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ अमूर्त्त पक्ष। मूर्त्त शब्द से अमूर्त्त रमणीय अर्थ की व्यंजना में बिम्बविधान स्पष्ट है। “अभिनवगुप्त” ने “अभिज्ञान शाकुन्तलम्” का “श्रीवामंगाभिरामम्”<sup>4</sup> छन्द उद्धृत करते हुए लिखा है कि उससे मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है, साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा आँख के आगे घूमता हुआ सा भयानक रस होता है।

“डॉ० नजेन्द्र” ने काव्य-बिम्ब और ध्वनि का घनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार किया है।

बिम्ब का सम्बन्ध लक्षणा, व्यंजना अथवा ध्वनि से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ट है। लक्षणा में मूर्ति-विधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है, अतः बिम्ब-निर्माण उसका सहज गुण है। व्यंजना में भी बिम्ब उद्बुद्ध करने की शक्ति है और ध्वनि के अनेक भेद बिम्ब रूप होते हैं। ध्वनि का मूल आधार वैयाकरणों का स्फोट है और स्फोट की कल्पना बिम्ब के मूल रूप से काफी निकट है।”<sup>5</sup>



## बिम्बों का वर्गीकरण

आलोचकों ने विविध आयामों एवं आधारों पर काव्य-बिम्ब का वर्गीकरण किया है। बिम्बों में ऐन्द्रिय आधार प्रमुख होता है। अतः ऐन्द्रिय आधार पर बिम्ब के पांच भेद किये गये हैं— दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्राणिक और रस या आस्वाद्य।

## महापुराण का बिम्ब-विधान

पुष्पदंत कृत “महापुराण” अपभ्रंश का एक सर्वोत्कृष्ट काव्य ग्रंथ ही नहीं है वरन् एक ऐसी महनीय कृति है जिसकी विशालता, उदात्तता, कमनीयता एवं गम्भीरता ने सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य को गौरव से मंडित किया है। इसमें कवि ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से पुराण, दर्शन, काव्य, इतिहास आदि का एक ऐसा संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत किया है जो मानव की सौन्दर्यात्मक उपलब्धियों का अक्षय भंडार बन गया है। मनुष्य का आत्म-विकास एवं आत्मविस्तार ही महापुराण का लक्ष्य है और इसकी पुष्टि के लिए कवि का सारा प्रयास है। महापुराण का दर्शन जैन-दर्शन है और इसलिए कवि वैराग्य को जीवन का चरम लक्ष्य मानकर भी जड़ता, गतिहीनता एवं क्लिष्टव्यविमूढ़ता को प्रश्रय नहीं देता। कवि की जिजीविषा शक्ति प्रबल है। वह विलास को ही विनाश मानता है और आत्मसम्मान को दिव्यजीवन। आत्मसम्मान की विभुता का उसने उदात्त चित्र खींचा है। अपने अपरिग्रही और स्वाभिमानी व्यक्तित्व को रूपक अलंकार से पुष्ट चाक्षुष-बिम्ब द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

जगं रम्भं हम्भं दीवओ चन्दबिम्बं ।  
 धरिती पल्लंको दो वि हत्था सुवत्थं ॥  
 पियाणिद्दा णिच्चं कव्वकीला विगोओ ।  
 अदीणत्तं चित्तं ईसरो पुप्फदन्तो ॥

“पुष्पदंत ईश्वर है, सुन्दर संसार उसका घर है, चन्द्रबिम्ब दीपक है, धरती पलंग है, और दो हाथ वस्त्र हैं, नित्य आने वाली नींद प्रिया है, काव्य-क्रीड़ा विनोद है, चित्त अदीन है।”

कवि का बिम्ब-विधान अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है उसने अपने बिम्बों को या तो जीवन के व्यापक अनुभवों से ग्रहण किया है या प्रकृति के विभिन्न उपादानों से। अपनी जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों एवं अन्तःकरण के संवेगों की उसने प्रकृति के उपादानों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रकृति के बिम्बों द्वारा ही उन्होंने चरित्रों की उदात्तता को मूर्तिमत्ता प्रदान की है तथा भावों और संवेदनाओं को प्रेषणीय बनाया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

## दृश्य या चाक्षुष बिम्ब

यह बिम्ब आकृतिमूलक होता है, अतः इसका आधार मूर्त्त होता है। “महापुराण” में चाक्षुष-बिम्ब का प्रयोग सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। यह मसृण और कठोर दो रूपों में

प्रयुक्त हुआ है। इसका कठोर रूप में प्रयोग स्वभाव-चित्रण, यथार्थ-चित्रण, काया-क्लेश एवं जीवन की नश्वरता के चित्रण के प्रसंग में सर्वाधिक रूप में हुआ है।

शिवकारणु वारुणु बद्धरोसु, बुज्जणु ससहावें लेइ वोसु ।  
ह्यतिमिरयरु वरकरणिहाणु, ण सुहाइ उल्लयहो उइउ भाणु ॥  
जइ ता किं सो भंडियसराहं, एउ रुच्चइ वियसिय सिरि हराहं ।  
को गराइ पिसुणु अविस्सहिय तेउ, भुक्कउ छरणयंवहु सारमेउ ॥ 1.8

अत्यन्त करुणाहीन, भयंकर और क्रोध करनेवाला दुर्जन स्वभाव से ही दोष ग्रहण करता है। अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाला और श्रेष्ठ किरणों का निधान तथा उगता हुआ सूर्य यदि उल्लू को अच्छा नहीं लगता तो क्या सरोवरों को मंडित करनेवाले तथा विकास की शोभा धारण करनेवाले कमलों को भी वह अच्छा नहीं लगता? तेज को सहन नहीं करनेवाले दुष्ट की गिनती कौन करता है? कुत्ता चन्द्रमा पर भौंका करे।

### कोमल गतिशील चाक्षुष-बिम्ब

कुसुमरेणु जहिं मिलियउ पवणुल्ललियउ करण्यवणु महु भावइ ।  
दिरणयरचूडामणियइ गहकामिणियइ कंचुउ परिहिउ णावइ ॥

13. 12-13

पवन से उड़ता हुआ, सुनहला मिश्रित कुसुम-पराग मुझ कवि पुष्पदंत को ऐसा लगता है मानो सूर्यरूपी चूडामणिवाली आकाशरूपी लक्ष्मी ने कंचुकी पहन रखी हो।

कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीक, मिथ आदि की सहायता से भव्य बिम्बों का निर्माण किया है। सूर्यास्त का चित्र अंकित करते हुए कवि कहता है—

तावत्थ इरि सूरु संपत्तउ ।  
णं दिणाराएं भेवुउ घित्तउ ॥

35.12. 1

अस्ताचल पर पहुँचा हुआ सूर्य ऐसा लग रहा है मानो दिनराज द्वारा फेंकी गयी गेंद पश्चिम दिशा की परिधि में जाती हुई शोभित हो रही हो।

इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से गतिशील चाक्षुष-बिम्ब की सम्यक् व्यंजना की गयी है।

### श्रव्य बिम्ब-योजना

वस्तु वर्णन के प्रसंग में कवि ने श्रव्य-बिम्ब का प्रयोग सर्वाधिक रूप में किया है। नगर की भव्यता का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए कवि ने लिखा है—

कामिणिकमवियलियकुंभेण रिण्हसइ जंतु जहिं जणु कमेण ।  
करिणरिणियसुकिंकिणिसणेहि गुप्पइ रिणवडंतहिं भूसणेहिं ॥  
खुप्पइ गयमयहयफेणपंकि तंबोलुण्णालइ जणियसंकिं ।  
जहिं विजयवडहदुहिसरेहिं सुव्वइ ए कि पि णारीणरेहिं ॥

1.16

कामिनियों के पैरों से विगलित कुंकुम के कारण जिस नगर के राजपथ पर मनुष्य फिसल जाते हैं, रुनभुन करती हुई किकिरियों के खिसक पड़ने से मनुष्य गिर पड़ता है,

गर्जों के मद और घोड़ों के फेनों के कीचड़ में और शंका उत्पन्न करनेवाले ताम्बूलों की पीकों में खप जाता है, जहाँ विजय-दुन्दुभियों के स्वरो के कारण नर-नारियों को कुछ भी सुनाई नहीं देता ।

### निर्धनता का बिम्ब

एगोरसु कव्वु व कुकइहि केरउ, तं जिह तिह पुणु एगारलंकारउ ।  
 अट्ठभाउ हंडइं दो पियरइं, कयल्ल चणयमुट्टिआहारइं ॥  
 फडियल वेढिय वक्कल कासइं, हड हड फुट्ट फरुस सिर केसइं ।  
 अम्हइं दह जगाइं तहि सघगइं कलहंतइं भासिय दुव्वय एणइं ॥  
 पंडुरपविरलदीहरदंतइं जावच्छहं परकम्भु करंतइं ।

22.15. 3-7

उसका घर कुकवि के काव्य की तरह नीरस और अलंकार रहित था । आठ भाई-बहन, पीतल के दो हण्डे, खल और चनों का मुट्ठी भर आहार करनेवाले । कमर तक वल्कल, निकले हुए सफेद होठ, सफेद केश राशि । उस घर में दस आदमी आपस में लड़ते हुए और कठोर शब्द करते हुए उस लम्बे विकट दाँतों वाले दूसरे का काम करते हुए रह रहे थे ।

यह निर्नामिका की निर्धनता का विराट चित्र है जो उसकी कातरता, व्यथा, पीड़ा, तड़प एवं दीनमूर्ति को बिम्बित करता है । “निर्नामिका” नाम स्वयं अपने में करुणा को उत्पन्न करने वाला है । उसकी लोमहर्षक, सर्वग्रासी एवं स्तब्धकर निर्धनता में वेदना की गहन अनुभूति संवेदनीय बन गयी है । शब्द-योजना ध्वन्यात्मक है जिसमें अभिशप्त जीवन की तीखी गूँज है ।

### स्पृश्य-बिम्ब

गालों पर हाथ रखी बाला का बिम्ब स्पष्ट करते हुए कवि कहता है —

तरल तमाल तालताली घणि,  
 गइ एगिदि एवकंकेलीवणि ।  
 फलिहसिलायलम्भि आसीणी  
 परभवपिय संभरणे ङ्गीणी ।  
 सुइरू महारुहाउ संचालिवि,  
 कोमलकरकमलें तणु लालिवि ।  
 एवकाहि दिणि करणिहियकवोली,  
 पंडुगंडविलुलियचिहुराली ।

22.13. 1-4

चंचल तमाल, ताल और ताली वृक्षों से सघन, नव अशोक वन में, महावृक्षों को बहुत समय तक संचालित कर कोमल हाथरूपी कमल से शरीर को सहलाकर वह बाला स्फटिकशिला पर बैठी थी । एक दिन, जिसने अपना हाथ गालों पर रख छोड़ा है और जिसके सफेद गण्ड-तल पर बालों की चंचल लट्टें हैं, ऐसी नवकदली के समान कोमल उस बाला से धाय ने कहा ।

नवकदली के समान कोमल शरीरयष्टि, मुखमण्डल पर लटों का छित्तराना, अघखुली आँखें, गालों पर हाथ रख कर बैठना—ये सब आकर्षक तो हैं ही, बाला की मनःस्थिति को भी बिंबित करते हैं। कवि ने बिम्बों द्वारा कान्ति, दीप्ति, लावण्य आदि सौंदर्य के उपादानों को मानस-प्रत्यक्ष कराकर सौंदर्यात्मक अनुभूति को स्पष्ट किया है।

मानवीकरण को पाश्चात्य आलोचना की देन कहा जाता है किन्तु महाकवि पुष्पदंत ने इसका प्रयोग पर्याप्त परिमाण में किया है। चन्द्र-किरणों से आहत कमलिनी के आंसुओं को पोंछते हुए सूर्य का चित्रण मानवीकरण के द्वारा पुष्ट स्पर्श-बिम्ब का सुन्दर उदाहरण है।

ससिपायाहया, दुक्खं पिव गया ।  
अलिरवरसणिया, रूपइ व भिसिणिया ।  
दंसइ पविमलं, ओसंसुयजलं ।  
तं पसरियकरो, पुसइ व तमिहरो ॥

4.19. 1-2

जो कमलिनी चन्द्रपादों (किरणों) से आहत होकर दुःख को प्राप्त हुई थी, भ्रमरों के शब्दों से गुंजित ऐसी कमलिनी रो उठती है और अपने प्रचुर ओसरूपी आंसुओं को दिखाती है। अन्धकार का हरण करनेवाला सूर्य मानो उसके आंसुओं को पोंछता है।

### घ्राणिक-बिम्ब

क्षीर-समुद्र के स्नान-जल के वर्णन के क्रम में कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा उसे कमल-पराग की धूल से धूसरित और गजकपोलों से भरते हुये मदजल के समान सुगन्धित बताया है।

पंकयकेसररयधूसरिउ, कस्सीरयराएं पिज्जरिउ ।  
वराणकुंजरकुंभत्थलखलिउ करडयलगलिय मयपरिमलिउ ।  
संचलियसिलिम्म्युह चित्तलिउ, णाराणामणिकिरणहिंसंबलिउ ।  
परिघोलइ सिह्रिदहु तरणउं, णं पंचवण्णु उप्परियणउं ॥

3.17. 3-7

कमल-पराग की धूल से धूसरित, केसर की लालिमा से पीला, वन-गजों के गंड-स्थलों से पतित, गजकपोलों से भरते हुए मदजल से सुगन्धित, चलते हुये भ्रमरों से चित्रित स्नान-जल ऐसा लगता है मानो सुमेरु पर्वत का पंचरंगा दुपट्टा उड़ रहा हो।

नीति-विषयक उपदेशों के लिए भी कवि ने यत्र-तत्र घ्राण-बिम्ब का प्रयोग किया है। जैसे—

होंति अबुह बुहसंगं बुद्धा, चंपय वासैं तिल वि सुयंधा ।

5.8.

पंडितों की संगति से मूर्ख भी पंडित हो जाते हैं जिस प्रकार चम्पा की गंध से तिल भी सुगन्धित हो जाते हैं।

### आस्वाद्य-बिम्ब

इस प्रकार के बिम्ब-चित्रण में कवि ने अलंकारों का विशेषतः उत्प्रेक्षा अलंकार का सहारा लिया है। लाल किरणोंवाले गोल सूर्य के सम्बन्ध में कवि की उत्प्रेक्षा है— मानो आकाशरूपी वृक्ष से नवदल गिर गया हो या दिशारूपी युवती ने मानो लाल फल खा लिया हो।

णं रावदलु राह रुक्खहु ल्हसियउ,  
रत्तहलु व ढिसितरणिइ उसियड ॥

35.12

महाकवि कालीदास ने रघुवंश महाकाव्य में कीचड़ में लथपथ सूअरों एवं भैंसों का बड़ा हृदयहारी चित्रांकन किया है। पुष्पदंत ने भी वन-वर्णन के क्रम में अंकुर खाते हुए शूकरों एवं पक्षियों के चों-चों से आहत होकर गिरे हुए पके आमों के गुच्छों के लिए दौड़ते हुए वानरों का बड़ा आकर्षक आस्वाद्य-बिम्ब उपस्थित किया है।

किडीखड्कदं, रायासीणकदं ।  
सरे रां सबंतं, महाबंसवंतं  
सवेल्ली पियालं, पुलिंदी पियालं ।  
विरणीत्तंकुरोहं, विचितंकुरोहं ।  
अलीपीयवासं, फणिदाहिवासं ॥

21.6.8

उस जंगल में जहाँ सूअरों के द्वारा अंकुर खाये जा रहे हैं, मेघ शिखरों से लगे हैं जो स्वरो से आवाज कर रहे हैं, जो बड़े-बड़े बाँसों से युक्त हैं, जो लताओं और प्रियाल लताओं से सहित हैं, जो शबरियों के लिए प्रिय हैं, जिसमें अंकुर निकल रहे हैं, जिसमें विचित्र अंकुरों का समूह है, जिसमें भ्रमर गंध का पान कर रहे हैं।

### मिश्र-बिम्ब

जब कोई बिम्ब एक से अधिक इन्द्रियों को तृप्त करता है तो उसे मिश्र-बिम्ब कहते हैं। बसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि ने चाक्षुष, स्पर्श एवं श्रव्य-बिम्ब का मिश्रित प्रयोग किया है।

छुडु मायंब रुक्खु कंटइयउ, महलच्छिइ आलिगिवि लइयउ ।  
छुडु चंपयतरु अंकूरंचिउ, रां कामुउ हरिसं रोमांचिउ ।  
छुडु कंकेल्लि कि पि कोरइयउ, रां वम्मह चित्तारं रइयउ ।  
छुडु मंदारसाहि पल्लवियउ, चलदलु णं महुणा रांच्च वियउ ।  
छुडु जायउ रामेरु कलियालउ, मतचओरकीररावालउ ।  
छुडु कारणिण पप्फुल्लु पलासउ, पहियहुं लगगउ विरहहुयासउ ।  
छुडु फुल्लिउ मल्लिंय फुल्लोहउ, रमणीर्याण पसरिउ रइलोहउ ।

28.14.1-7

आम्रवृक्ष कंटकित हो गया, मधुलक्ष्मी ने आर्लिगन कर उसे ग्रहण कर लिया। शीघ्र चंपकवृक्ष अंकुरों से अंचित हो उठा, मानो कामुक हर्ष से रोमांचित हो गया। अशोक वृक्ष कुछ-कुछ पल्लवित हो उठा मानो ब्रह्मारूपी चित्रकार ने उसकी रचना की हो, शीघ्र ही मंदार की शाखा पल्लवित हो गयी मानो चलदल (पीपल) को मधु ने नवा दिया हो। शीघ्र नमेरू (पुन्नाग वृक्ष) कलियों से लद गया और मतवाले चकोर एवं कीड़ों की ध्वनियों से गूँज उठा। शीघ्र ही कानन में टेसूवृक्ष खिल गया और पथिकों के लिए विरहाग्नि जलने लगी।

प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता “युंग” ने आदि बिम्ब (Archetypical image) की भी चर्चा की है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के आनुवंशिक संस्कारों से रहता है। इसी प्रकार काव्य-बिम्ब को परंपरित रूप-विधान, सामयिक रूप-विधान, नव्य रूप-विधान आदि कोटियों में वर्गीकृत किया गया है। कुछ आलोचकों ने सांस्कृतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भावात्मक, गुणात्मक आदि दृष्टिकोणों से भी इसका वर्गीकरण किया है। वस्तुतः यह विषय एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है। महापुराण का कवि एक सामान्य रचनाकार मात्र नहीं है अपितु है ऋतम्भरी प्रज्ञा का प्रकाशपुञ्ज, उद्गीय-गायक और ज्योतिर्मय जीवन का द्रष्टा-स्रष्टा ऋषि।

वह कुरूपता, विद्रूपता एवं विनाश के भीतर भी सौन्दर्य, आस्था एवं मंगल का दर्शन करता है। उसकी एकमात्र कामना है :-

इह दिव्वह कव्वह तणउ फलउ लहु जिएणाहु पयच्छउ ।  
सिरिभरहहु अरूहहु जहिं गमणु पुफयंतु तहिं गच्छउ ॥

इस दिव्य काव्य-सृजन का फल जिन-प्रभु यही दें कि जहाँ चक्रवर्ती भरत एवं भगवान् अरहन्त का गमन हुआ है, वहीं मेरा गमन हो।

1. Ezra Pound : Literary Essays, Page 17
2. C.D. Lewis : The Poetic Image, Page 19
3. डॉ० नगेन्द्र : काव्य बिम्ब, पृष्ठ 45
4. श्रीवाभंगाभिरागं मुहुरनुपतति स्यंदने बद्धदृष्टिः  
पश्चार्थेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भ्रूयसा पूर्वकायम्  
दभैरघविलीढेः श्रमविकृतमुखं भ्रशिभिः कीर्णं वर्त्मा  
पश्योद्गण्णुतन्वा द्विषति बहुतरं स्तोकमुख्यो प्रयाति ।
5. डॉ० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, पृष्ठ 42-43
6. पुष्पदन्त : महापुराण, प्रस्तावना अंश, पृष्ठ 41, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

# पुष्पदंत और सूरदास (वात्सल्य)

— डॉ० प्रेमसागर जैन



मानव जीवन की दो प्रमुख वृत्तियाँ हैं — वात्सल्य और दाम्पत्य । इनमें भी हिन्दी के भक्ति-क्षेत्र के कवियों ने दाम्पत्य पर जितना लिखा, वात्सल्य पर नहीं । एक मात्र सूर ही इस क्षेत्र के जगमगाते रत्न हैं । यद्यपि आचार्यों ने वात्सल्य को पृथक् रस नहीं माना है, किन्तु उसमें कुछ ऐसी चमत्कारिक शक्ति है, जिससे किन्हीं-किन्हीं ने उसे पृथक् रस के रूप में भी स्वीकार किया है और उसका स्थायी भाव स्नेह माना है । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो जैन साहित्य में वात्सल्य रस के आलम्बन पंच परमेष्ठी और आश्रय माँ-बाप तथा भक्तजन होंगे । आलम्बन-गत चेष्टाएँ, कार्य और उस अवसर पर मनाये जानेवाले उत्सवादि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आ जायेंगे ।

सूर के बाद वात्सल्य का सरस उद्घाटन जैन हिन्दी साहित्य में ही हुआ है । जन्म के अवसरों पर होनेवाले आकर्षक उत्सवों की छटा को तो सूर भी नहीं छू सके हैं । जैन साहित्य में तो आलम्बन के गर्भ में आने के पहले ही कुछ ऐसा वातावरण बनाया जाता है

कि वत्स के जन्म लेने के पूर्व ही वात्सल्य पनप उठता है। सत्रहवीं शताब्दी के पाण्डे रूपचंद्र के पंचमंगल, भूधरदास के पार्श्वपुराण और जगराम के लघुमंगल से ऐसा सिद्ध है। पार्श्वपुराण में तो जन्मोत्सव की जैसी छटा अंकित है वैसे समूचे हिन्दी साहित्य में देखने को नहीं मिलती। गर्भोत्सव और जन्मोत्सव जैन साहित्य की अपनी देन है, वह सूर-सागर में नहीं है। सूरदास में गर्भोत्सव तो हुआ ही नहीं है, जहाँ तक जन्मोत्सव का सम्बन्ध है सूर ने कृष्ण-जन्म की आनन्द बघाई के उपरान्त ही “यशोदा हरि पालने भुलाये” प्रारम्भ कर दिया है। ऐसी दशा में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जैन-हिन्दी के बाल-वर्णन पर सूरदास का प्रभाव था।

सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधा पर नहीं। बालिकाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन, सीता और अंजना के रूप में जैन भक्ति काव्यों में उपलब्ध होता है। रायचन्द्र के “सीता चरित” में बालिका सीता की विविध दशाओं का सरस चित्र खींचा गया है। “अंजना सुन्दरी रास” में अंजना का बाल वर्णन भी हृदय-ग्राही है। बालिका सीता, मणिमय आंगन में बैठी अपने दीर्घायत नेत्रों से चारों ओर देख रही है, किन्तु जब पिता जनक पर नज़र पड़ती है, तो उसके होठों पर मीठी मुस्कराहट इस भांति छिटक जाती है, जैसे किसी भक्त के हृदय की दिव्य-ज्योति ही हो। खम्भों में पड़ते उसके मुख-कमल के प्रतिबिम्ब ने कमलों की माला ही रच दी है।<sup>1</sup> अंजना को तो उसके माँ-बाप उंगली पकड़कर चलना सिखाते हैं, किन्तु बार-बार वह गिर जाती है। वह भोली आँखों से पिता की ओर देखती है और वे उसको चूमकर गोद में उठा लेते हैं।<sup>2</sup>

इस उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि जैन हिन्दी का बाल-वर्णन अपनी ही पूर्व परम्परा से अनुप्राणित था। उस पर सूरदास का प्रभाव नहीं था। जैन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक ग्रंथ तीर्थंकरों, महात्माओं और देवियों के बाल-वर्णन से युक्त हैं। वहाँ वात्सल्य बिखरा पड़ा है। जैन अपभ्रंश के दो प्रसिद्ध ग्रंथ स्वयंभू का पउम-चरिउ और पुष्पदंत का महापुराण तथा अन्य रचनाएँ इस दिशा की मानस्तम्भ हैं। इन ग्रंथों का जैन हिन्दी के वात्सल्य रस पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

यदि कोई यह कहे कि सूरदास का बाल-वर्णन भी इन जैन काव्यों से प्रभावित था, तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूरदास अपनी ही निजी परम्परा से प्रभावित थे, जैन काव्यों से नहीं। अतः प्रो० जगन्नाथ शर्मा का यह कथन कि “हिन्दी का कौन कवि है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपभ्रंश के जैन प्रबन्ध काव्यों से प्रभावित न हुआ हो।”<sup>3</sup> और डॉ० रामसिंह तोमर का लिखना कि — “अतः हम संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी की सभी काव्य-पद्धतियों का स्पष्ट स्वरूप हमें जैन कवियों द्वारा प्राप्त होता है।”<sup>4</sup> मान्य नहीं है। डॉ० तोमर ने अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए पुष्पदंत के महापुराण और सूरदास के सूरसागर के एक पद की तुलना की है। वह पद बाल-वर्णन से सम्बन्धित है जो इस प्रकार है—



“सेसव लीलिया कीलमसीलिया ।  
 पट्टणा दाविया केण ए भाविया ॥  
 धूलि-धूसरू ववगय कडिल्लु ।  
 सह जायक विलकोंतलु जडिल्लु ॥  
 हो हल्लर जो जो सुहुं सुअर्हि ।  
 पइं पणवंतउ मूयगणुं ॥  
 रांदइ रिणउभइ दुक्किय भलेण ।  
 का सुवि मलिगुण ए होइ मणु ॥  
 धूलीधूसरो कडि किक्किणी सरो ।  
 रिणरुव मलीलउ कीलइ बालंउ ॥

— महापुराण

कहाँ लो वरणाँ सुन्दरताइ,  
 खेसत कुंअर कनक आंगन में, नैन निरखि छवि छाइ ।  
 कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति, बहुविधि सुरंग बनाइ ।  
 मानो नवधन ऊपर राजत, मघवा धनुष चढ़ाइ ।  
 अति सुवेश मृदु हरत चिकुर मन, मोहन मुख बगराइ ।  
 खंडित वचन देत पूरन सुख, अल्प-अल्प जलपाइ ।  
 घटुरुन चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाइ ॥”

— सूरसागर

दोनों के हृदय में एक-से भाव आ सकते हैं, फिर भी ऐसा हू-बहू नहीं हो सकता । यह जब होता है, तो प्रथम का द्वितीय पर प्रभाव सिद्ध हो ही जाता है । किन्तु केवल एक पद के मिल जाने भर से इतनी बड़ी बात नहीं कही जा सकती । यह सच है कि — “वात्सल्य रस के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं ।<sup>5</sup> इसका कारण था — महाकाव्य का रचयिता बाल-वर्णन में अधिक नहीं खप सकता, उसे कथानक के साथ आगे बढ़ जाना होता है । महाकाव्य समूचे मानव-जीवन को लेकर चलता है, उसके एक अंश को लेकर नहीं । बाल-पन समूचे जीवन का एक हिस्सा भर ही तो है । सूरसागर महाकाव्य नहीं है । वह कृष्ण के बाल और केशोरूप की विविध मनोदशाओं का मुक्तक शैली में निरूपण है । उन्हें विविध कोणों से बाल-वर्णन के चित्रण का अवसर था । पुष्पदंत महाकाव्य के प्रणेता थे । उन्हें कथा-प्रबन्ध का निर्वाह करना था । इस बीच बाल-दशा उकेरने का जितना अवकाश हो सकता था, उन्होंने दिया । रामचरितमानस के रचयिता तुलसी के साथ भी यही बात थी । वे राम के बाल-रूप को वैसा अंकित न कर सके जैसा कि सूर ने कृष्ण का किया । इसमें महाकाव्य का कथा-प्रवाह बाधक था ।<sup>6</sup>

यद्यपि पुष्पदंत ने अपनी कविता को जिन-चरणों की भक्ति से ही स्फुरायमाण माना है, जीविका-निर्वाह के खयाल से नहीं,<sup>7</sup> किन्तु जिन-भक्ति अध्यात्ममूला होने के कारण

विवेकयुक्त थी, कोरी भावात्मक नहीं, अतः उसमें भाव का ज्वार नहीं था। भाव था किन्तु उत्तप्त लपलपाती लहरें नहीं थीं। इसके अतिरिक्त जैन भक्त कवियों पर परम्परानुगतता ने भी अंकुश का काम किया। प्राकृत और संस्कृत के जैन ग्रंथों में तीर्थंकर के गर्भ और जन्म का जैसा विवेचन था, वैसा ही अपभ्रंश और हिन्दी की जैन रचनाओं में उपलब्ध होता है। मौलिकता का अवसर कम था, फिर भी उसमें एक ऐसा आकर्षण था, जो कभी कम नहीं हुआ। भाषा के भिन्न होने मात्र से आकर्षण कम नहीं हो जाता। इसके साथ ही, परम्परागत होने पर भी भाषा के रचयिता ने कुछ-न-कुछ नवोन्मेष तो किया ही है। यद्यपि भूधरदास के पार्श्वपुराण में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के गर्भ और जन्म का पूर्वानुगत वर्णन है, फिर भी उसकी मौलिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।<sup>१०</sup> इसी भांति पुष्पदंत के महापुराण के आदिपर्व में ऋषभदेव के गर्भ और जन्मोत्सवों के भावोन्मेष से पाठक विभोर होता ही है। उसका अपना आकर्षण है—एक भिन्न कोटि का, जो सूर में नहीं मिलता।

“गायकुमारचरित” पुष्पदंत की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।<sup>११</sup> उसमें नागकुमार के चरित्र पर एक उत्कृष्ट कोटि का सरस प्रबन्ध-काव्य निबद्ध है। महापुरुष हो अथवा दिव्य-पुरुष, जब वह मां के उदर में आता है, तो मां स्वप्न अवश्य देखती है। इसे कथा-रूढ़ि ही माना जा सकता है। नाग की मां पृथ्वीदेवी ने पांच स्वप्न देखे—उन्मत्त हाथी, वज्र समान नखों की कोटि से हाथियों को मारनेवाला हरि अर्थात् सिंह, मगरों से चलायमान भयंकर रत्नाकर, शशि—दिनकर और विकसित कमलों से युक्त सरोवर। उस समय के योगी मुनि पिहिताश्रव से इस स्वप्न का फल पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि तुम्हारे “माण्णिरिहियहह सिमु कुसुमसरु तुम्हहँ दीहि मि होसइ।”<sup>१०</sup> अर्थात् मानिनियों के हृदय को हरनेवाला कामदेव जैसा पुत्र होगा।

माता के उदर में जब पुत्र आया, तो देवी का मुख-कमल पीला दिखाई देने लगा, मानो वह पुत्र के यश के प्रसार से धवल हो गया हो। अपने नीचे गिरने के भय से भीत होकर उसके स्तन-मुख, दुर्जन-मुख के समान काले पड़ गये।<sup>११</sup> यहाँ महापुराण के तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा गर्भोत्सव का विवेचन नहीं है। नागकुमार तीर्थंकर नहीं थे—शायद इसी कारण।

नागकुमार के जन्म और जन्मोत्सव का वर्णन काव्य-सौंदर्य से युक्त है। कवि ने लिखा है—जिसप्रकार पुरा कवि (वाल्मीकि) की बुद्धि से काव्यार्थ उत्पन्न हुआ तथा देवकी से दामोदर और शिवदेवी से पार्श्व जिनेन्द्र, उसी प्रकार पृथ्वी महादेवी से नागकुमार उत्पन्न हुए।<sup>१२</sup>

दूसरे स्थान पर कवि का कथन है—पुत्र कामदेव का अवतार था। उसके जन्म के समय दशों दिशाओं के मुख निर्मल हो गये, वन फल-फूल फूल उठे, प्रत्येक उपवन में वसन्त काल प्रगट हुआ, जन-जन में सन्तोष बढ़ा, नर-नर में नाटक रस का संचार हुआ तथा घर-घर में जय का नगाड़ा बज उठा। ऋषियों का हृदय भी राग से रंजित हो उठा। सम्पूर्ण नगर

सुख-सौभाग्य से भर गया। कोयलों का कल-कल रव सब ओर ध्वनित होने लगा। विरही-जन विरह की ज्वाला से जल उठे। भौरों की पंक्ति ऐसी मधुर स्तम्भुन ध्वनि करने लगी मानो कामदेव के घनुष की प्रत्यंचा झनझना रही हो। मंगलमय धवल वस्त्रों से सुसज्जित विलासिनी स्त्रियों ने सामूहिक रूप से विलासमय नृत्य किया। दीनजन दान से आनन्दित किये गये। बन्दीजन बन्दीगृह से मुक्त कर दिये गये।<sup>13</sup>

सांसारिक दृष्टि से भगवान् वही है, जो शक्तिसम्पन्न हो—अलौकिक शक्ति का धनी हो, जो जनसाधारण को काल के क्रूर थपेड़ों से बचा सके, जो दुष्ट पुरुषों और भयंकर दरिन्दों से रक्षा कर सके, जो सर्व शक्तिवान् हो। संसार शक्ति-पूजक है और वह भगवान् उसी को मानता है, जो आश्चर्यकारी शक्तियों का पुंज हो। भगवान् के सम्बन्ध में यह मान्यता सार्वभौम है। सूरदास के ग्वाल-बाल कृष्ण को तभी भगवान् मान सके, जब उन्होंने दुर्दान्त कालिय नाग को नाथ लिया। उस समय वे बालक मात्र थे, पुरुष नहीं। तभी उन्होंने यह असम्भव-सा लगनेवाला कार्य कर दिखाया था। “गायकुमारचरित” में नागकुमार का चरित्र भी इसी प्रकार का है। यहाँ खेलता हुआ बालक, अकस्मात् वापी (बावड़ी) में जा गिरा, डरा नहीं, रोया नहीं, चीखा-चिल्लाया नहीं, अपितु वहाँ मौजूद एक मणिधारी सर्प के फण पर जा बैठा। उसने विषधर की मणि में अपना प्रतिबिम्ब देखा, तो समझा कि कोई दूसरा शिशु है, अतः उससे खेलने लगा। वह अपने करतल से नाग के मुख और दाढ़ों को छूता रहा, हंसता रहा—निर्भीक और निडर।<sup>14</sup> पुष्पदंत सूरदास के पूर्ववर्ती थे। कम-से-कम पांच सौ वर्ष का अन्तराल तो था ही। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सूरदास के कालिय नाग की कथा पुष्पदंत से प्रभावित थी। मेरी दृष्टि में प्राचीन और मध्यकालीन काव्यों में नाग को नाथने की कथा एक कथारूढ़ि सी हो गई थी। कोई किसी से प्रभावित नहीं था।

पुष्पदंत और सूरदास के बाल-वर्णन में वही अन्तर है, जो अन्य जैन कवियों और सूर-परम्परा के कवियों में है। जैन काव्यों में गर्भ और जन्म का जैसा मनोहारी वर्णन है, वह आलंकारिक होते हुए भी सरस है। नेत्रहीन होते हुए भी सूरदास ने कृष्ण की बाल और केशोर लीलाओं का जैसा चित्रांकन किया, जैन कवियों में कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त सूरदास के बाल-वर्णन में जो भाव-विभोरता है, वह जैन काव्यों में नहीं। दोनों के भक्ति-दर्शन में भिन्नता थी। जैन कवि अध्यात्म-मूला भक्ति को लेकर चले, जबकि सूर कोरे भक्ति-भाव के उपासक थे। अध्यात्म-मूला भक्ति में जहाँ विवेक बरकरार रहता है वहाँ कोरी भक्ति में भाव अन्धड़ की तरह बहता है, साथ ही पाठक बह जाता है और फिर रीजनिंग/तर्क-संगतता भी बह जाती है। जैन कवियों में भी भक्ति थी, भावोन्मेष था, किन्तु उसे उन्होंने नशा कभी नहीं बनाया।

1. रायचन्द, सीता चरित, जैन सिद्धांत भवन, आरा की हस्तलिखित प्रति, 1.126. पृष्ठ 11

2. अंजना सुन्दरी रास, जैन सिद्धान्त भवन, आरा की हस्तलिखित प्रति, 2.35 पृष्ठ 43

3. प्रो० जगन्नाथ शर्मा, अपभ्रंश दर्पण, पृष्ठ 25
4. डॉ० रामसिंह तोमर, जैन अपभ्रंश साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ 468
5. भ्रमरगीत सार, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, द्वितीय संस्करण, काशी, भूमिका, पृष्ठ 2
6. मञ्जु कइत्तुगु जिणपयभत्तिहें, पसरइ एइ जिणजीवियवित्तिहें—पुष्पदंत, उत्तर पुराण ।
7. भूधरदास, पार्श्वपुराण, बम्बई, द्वि० वृ०, वि० सं० 1975, 5/80-88, पृष्ठ 83-84
8. पुष्पदंत, गायकुमारचरिउ, डा० हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वि० सं० 2029, द्वितीयावृत्ति ।
9. गायकुमारचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीयावृत्ति 2.7.5, पृष्ठ 26
10. वही, 2.8.10, पृष्ठ 28
11. वही, 2.8.11, पृष्ठ 28
12. वही, 2.9.10, पृष्ठ 28
13. गायकुमारचरिउ, 2.12.10, पृष्ठ 32



.....जहि अहिंस तहि धम्मु गिरुत्त ।  
 जहि अरहंतदेउ तहि संयमहु, जहि मुणिवरु तहि इंदियणिग्गहु ॥  
 अर्थ — जहाँ अहिंसा है वहाँ निश्चय से धर्म है ।

जहाँ अरहन्तदेव हैं वहाँ संयम है और  
 जहाँ मुनिवर हैं वहाँ इन्द्रियनिग्रह है ।

— म. पु. 28. 21. 9-10

# जैन रामकथाओं के परिप्रेक्ष्य में पुष्पदन्त की रामकथा

— सुश्री प्रीति जैन



रामकथा भारतीय वाङ्मय का अत्यधिक व्यापक, अतिप्रिय, श्रद्धास्पद एवं रुचिकर विषय रहा है। राम का अनूठा व्यक्तित्व सदैव ही भारतीय जनमानस के आकर्षण का बिन्दु रहा है। उनका चरित्र लोकरंजक तो रहा ही है साथ ही भोग-विलास से परे आध्यात्मिक जागृति हेतु एक मशाल/प्रकाशस्तम्भ भी है। साहित्य-जगत् उनके आदर्श व अद्भुत व्यक्तित्व से इतना अभिभूत रहा है कि सदियों से साहित्य की प्रत्येक विधा में रामकथा की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं, लोक भाषाओं एवं विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी रामविषयक उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। पुराण-महापुराण, काव्य, नाटक, उपन्यास, कथा-कहानी आदि सभी साहित्यिक विधाओं में रामकथा गुम्फित है। जैन-वैदिक-बौद्ध आदि धार्मिक साहित्य में भी रामकथा को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त है। यद्यपि इन धार्मिक, साहित्यिक परम्पराओं में यह कथा विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है तथापि इन सब में राम को एक आदर्श मानव के रूप में स्वीकार किया गया है। मर्यादा पुरुषोत्तम विशेषण से विभूषित राम की कथा जनमानस में इतनी अधिक लोकप्रिय और समादृत रही है कि उसका निरूपण न केवल भारतीय अपितु विदेशी साहित्य में भी पूर्ण श्रद्धा व सम्मान के साथ व्यापक/विस्तृत रूप में प्राप्त होता है।

जैनपरम्परा में राम त्रैलोक्य शलाका-पुरुषों में आठवें वासुदेव के रूप में मान्य हैं इसीलिये उनका जीवनचरित महापुराणों में जिन्हें त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित भी कहा जाता है, अनुस्यूत है। आचार्य जिनसेन-गुणभद्र कृत संस्कृत-महापुराण एवं महाकवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण में भी रामकथा सुतरां अंकित है। महापुराणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र-रूप से राम के जीवन-चरित पर आधारित ग्रन्थ भी बहुलता से प्राप्त हैं। जैनपरम्परा में राम को “पद्म” नाम से भी अभिहित किया गया है। इसी कारण जैन-रामकथा पद्मपुराण, पद्मचरित, पउमचरिउ आदि नाम से उपलब्ध है।

जैनसाहित्य में रामकथा का प्रथम संकेत नामावलीबद्ध है, इसमें राम के वंशजों के नामोल्लेख मात्र ही हैं।<sup>1</sup> रामकथा का सर्वाधिक प्राचीन विशद आख्यान आचार्य विमलसूरि के प्राकृत “पउमचरिउ” (ईसा की प्रथम शताब्दी) में प्राप्त होता है। तत्पश्चात् ईसा की सातवीं शताब्दी में आचार्य रविषेण ने संस्कृतभाषी “पद्मचरित” की रचना की जो आचार्य विमलसूरि के “पउमचरिउ” का छायानुवाद कहा जा सकता है। अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभू कृत “पउमचरिउ” आठवीं शताब्दी की रचना है। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ मुख्यतः रामकथा पर आधारित हैं। महापुराणों में प्रमुखतः संस्कृत महापुराण गुणभद्र (नवम शताब्दी) द्वारा रचित है और अपभ्रंश महापुराण महाकवि पुष्पदन्त (दसवीं शताब्दी) की रचना है। इस प्रकार जैनपरम्परा में तीनों प्राचीन भाषाओं में रामकथाविषयक साहित्य सृजन हुआ है।

जैनरामकथा दो धाराओं में उपलब्ध है।<sup>2</sup> एक धारा में विमलसूरि, रविषेण व स्वयंभू द्वारा मान्य और दूसरी धारा में गुणभद्र व पुष्पदन्त द्वारा मान्य कथाएं हैं। यहाँ आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण व महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण की रामकथा पर विचार करना अभीष्ट है। प्रथमतः गुणभद्र कृत रामकथा प्रस्तुत है<sup>3</sup> -

आचार्य गुणभद्र ने राम के तीन भव पूर्व की घटना पर प्रकाश डालते हुए रामकथा का प्रारम्भ किया है - चन्द्रचूल रत्नपुर के राजा प्रजापति का पुत्र था। मंत्रीपुत्र विजय उसका समवयस्क मित्र था। अत्यधिक स्नेह से पालित होने के कारण वे दोनों कुमार दुर्ब्यसनी व दुराचारी हो गये। उन्होंने श्रेष्ठीकुमार श्रीदत्त की भावी वधू को अपने अधीन करने की चेष्टा की। उनके इस दुष्कृत्य से राज्य की सारी प्रजा क्षुब्ध हो उठी। परिणामतः उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया गया (म० पु० 67.117)। दोनों कुमारों ने आत्मग्लानिवश विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण कर ली (67.135)। तपश्चर्यापूर्वक आयु समाप्त कर राजपुत्र चन्द्रचूल स्वर्ग में मरिचचूलदेव व मंत्रीपुत्र विजय स्वर्णचूलदेव हुए। चिरकाल तक स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने के बाद आयु पूर्ण कर स्वर्णचूलदेव बनारस के राजा दशरथ की सुबाला नाम की रानी से फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को पुत्ररूप में उत्पन्न हुए जिन्हें ‘राम’ नाम से अभिहित किया गया (67.149)। मरिचचूलदेव दशरथ की दूसरी रानी केकयी से पुत्ररूप में उत्पन्न हुए जिनका नाम “लक्ष्मण” रखा गया।

कुछ समय पश्चात् राजा दशरथ अयोध्या चले गये। वहीं पर राजा की तृतीय पत्नी (जिनका नामोल्लेख नहीं है) से भरत व शत्रुघ्न नामक दो पुत्र हुए। अपरिमित शक्तिशाली राम व लक्ष्मण जब युवा हुए तो सर्वत्र उनकी कीर्ति का प्रसार होने लगा।

मिथिला के तत्कालीन राजा जनक ने एक यज्ञ का अनुष्ठान करवाया। युवराज राम व लक्ष्मण को यज्ञरक्षार्थ समर्थ जानकर जनक ने दशरथ के पास, उन्हें मिथिला भेजने हेतु निमन्त्रण भेजा और अपनी पालिता पुत्री सीता के साथ "राम" के विवाह का प्रस्ताव कहलवाया (67.179-80)।

सीता अपने पूर्वभव में स्थालक नगर के राजा अमितवेग की पुत्री मणिमति के रूप में थी। एक दिन वह वन में विद्यासिद्धि हेतु साधनारत थी। उसी समय दक्षिणात्यनगर मेघकूट के राजा पुलस्त्य व रानी मेघश्री का पुत्र रावण अपनी पत्नी मन्दोदरी के साथ वहाँ वनबिहार के लिए आया। उस अनिन्द्य सुन्दरी मणिमति को देख रावण मोहित हो गया और दुर्लक्ष्य में प्रवृत्त होकर मणिमति की साधना में विघ्न करने लगा। साधनारत मणिमति विघ्न के कारण क्रुद्ध हो उठी। उसने निदान किया कि मैं इस दुर्बुद्धि राजा की पुत्री होकर इसका सर्वनाश करूँ (68.16)। इस निदान के फलस्वरूप वह मन्दोदरी से पुत्रीरूप में उत्पन्न हुई। उसके जन्म के समय पर हुए भूकम्प आदि उपद्रवों के आधार से निमित्तज्ञानियों ने बताया कि यह बालिका अपने पिता रावण के सर्वनाश का कारण बनेगी। अपने भावी सर्वनाश की आशंका से भयभीत रावण ने उसी समय उस सर्वनाशी नवागता पुत्री के निष्कासन हेतु आज्ञा दी। राजाज्ञा के अनुसार एक मंजूषा में प्रचुर धन के साथ उस सद्यःप्रसूता बालिका को रखकर मिथिला के समीप उद्यान में रख दिया गया।

मिथिला के राजा जनक ने उद्यान से प्राप्त उस कन्या को "सीता" नाम से संबोधित किया और अत्यन्त गुप्तरूप से पुत्रीवत् पालनकर उसके गुणों की अभिवृद्धि की। रावण को उस बालिका के सम्बन्ध में कुछ भी स्मरण/ज्ञान न रहा। यज्ञ - अनुष्ठान के समय राजा जनक ने रावण को आमन्त्रित भी नहीं किया।

राजा दशरथ ने चतुरंगिणी सेना से विभूषित राम व लक्ष्मण को राजा जनक द्वारा सम्पाद्य यज्ञ की रक्षार्थ भेजा (68.28-30)। यज्ञ की विधिवत् निर्विघ्न समाप्ति के बाद राजा जनक ने सीता के साथ युवराज राम का विवाह सम्पन्न कराया (68.31-34)। विवाहोपरान्त राम सीता के साथ अयोध्या लौट आये।

सुदीर्घ परम्परा से प्राप्त बनारस राज्य को पुनः अपने संरक्षण में लेने हेतु राम व लक्ष्मण पिता दशरथ की आज्ञा प्राप्त कर बनारस चले गये (68.77-80) और कुशलता-पूर्वक प्रजापालन करने लगे।

एक दिन नारद ने आकर गर्वोन्मत्त रावण को बहकाया कि राजा जनक ने यज्ञ के बहाने दशरथपुत्र राम को अपने यहाँ बुलाकर अपनी अनन्यसुन्दरी पुत्री सीता के साथ उसका विवाह करा दिया। नारद सीता के सौन्दर्य की अतिशय प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि वह स्त्रीरत्न तो सर्वथा तुम्हारे उपयुक्त था किन्तु राजा जनक ने उसे तुम्हें प्रदान न कर राम के समक्ष तुम्हें अवमानित किया है (68.94-99)। अमितबुद्धि रावण सौन्दर्य-प्रशंसा सुनकर ही सीता के प्रति आसक्त होने लगा। अभिमान से अभिषिक्त रावण समझने लगता है कि वह भाग्यशालिनी भाग्यहीनों के पास रहने लायक नहीं है, एक मात्र मैं ही

उसके योग्य हूँ (68.103)। अतः उसने उस बलहीन राम से सीता को बलात् छीन लाने का संकल्प किया।

उसके इस प्रकार नीतिविहीन निर्णय को जानकर सभासद् नानाविध समझाते रहे पर दुर्निश्चयी रावण को उनकी सलाह मान्य न हुई। अन्त में मंत्री मारीच के अनुरोध पर सीता का मानस जांचने हेतु अपनी बहिन सूर्पाखा को दूती बनाकर भेजा और उससे किसी भी प्रकार सीता को अपने प्रति आसक्त करवाने का आग्रह किया (68.124)।

सूर्पाखा अविलम्ब आकाशमार्ग से वाराणसी के चित्रकूट वन में पहुँची और अबसर देखकर वृद्धा का रूप धरकर वन में विहार कर रही सीता के सम्मुख प्रगट हुई। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु सीता से चाटुकारितापूर्वक वार्तालाप करने लगी परन्तु सीता के विद्वत्तापूर्णा, दृढ़ धार्मिक आस्थायुक्त वचन सुनकर सूर्पाखा ने समझ लिया कि सीता के मन को चलायमान करना सर्वथा असंभव है। उसने लौटकर रावण से यह तथ्य प्रकट किया, यह जानकर रावण खिन्न हो उठा (68.182)। वह मारीच को साथ ले, विमान में आरूढ़ हो चित्रकूट वन में पहुँच गया। वहाँ रावण की आज्ञा से मारीच मणिमय मृगशावक का रूप धर सीता के सम्मुख प्रकट हुआ (68.197)। उस मनोहारी शावक पर मोहित हो सीता ने राम से उसे प्राप्त करने का आग्रह किया। राम उस मृगशावक को पकड़ने के लिए गए। पीछे से रावण राम का छद्मरूप बनाकर आया और सीता से कहा कि तुम्हारा वांछित मृग प्रासाद में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, चलो प्रासाद में चलें, यह कहकर रावण ने उसे विमान में बैठा लिया और लंका ले गया। वहाँ अपने यथार्थरूप में प्रत्यावर्तित होकर उसने अपना मन्तव्य प्रकट किया। सीता उसकी यथार्थता व दुरभिप्राय जानकर दुःख से मूर्च्छित हो गई। रावण ने सीता का स्पर्श नहीं किया क्योंकि शीलवती परस्त्री के स्पर्श से उसकी आकाशगामिनी विद्या नष्ट हो जाती।

चित्रकूट वन में वह मायावी मृगशावक काफी समय तक राम के हाथ नहीं आया और फिर उछलकर आकाश में चला गया (68.201-2)। मृग का अनुगमन करते हुए संध्या हो गई। परिवारजन राम व सीता को खोजने लगे पर उस सघनवन में एकाकी राम ही मिले, सीता नहीं। सीता के बारे में कोई सूचना प्राप्त न होने पर राम मूर्च्छित हो गये (68.238-42)।

अयोध्या में राजा दशरथ को एक दुःस्वप्न द्वारा ज्ञात हुआ कि रावण ने सीता का हरण कर लिया है। उन्होंने दूत के साथ यह समाचार बनारस भेजा (68.248)। जनक, भरत, शत्रुघ्न, सभी राम को धैर्य बंधाने आये। सभी ने मिलकर सीता को रावण के चंगुल से निकालने की युक्तियों पर विचार-विमर्श किया और राम के शरणागत दो विद्याधर कुमार सुग्रीव व अणुमान् में से अणुमान् को सीता की खबर लाने हेतु भेजा (68.287-89)।

अणुमान् ने लंका पहुँचकर भ्रमर का रूप बनाया और सीता को खोजने लगा। नन्दनवन में सीता को देखकर पुनः रूप परिवर्तन कर वानर का रूप धर सीता के सम्मुख गया और राम का संदेश देकर उन्हें आश्वस्त किया कि वह राम का ही दूत है कोई मायावी छलिया नहीं। लौटकर राम को सीता का वृत्तांत सुनाया।



मन्दोदरी सीता के शरीरगत चिह्नों को देखकर पहचान गयी कि यह मेरी बालपन से ही परित्यक्ता पुत्री है। उसे देखकर मन्दोदरी स्नेहासिक्त हो उठी और पुत्री से बोली—बेटी, चाहे मृत्यु का वरण कर लेना पर रावण का मनोरथ पूर्ण मत करना (68.352)।

राम ने अणुमान् को संधि-प्रस्ताव लेकर पुनः विभीषण के पास भेजा। विभीषण ने भी रावण को समझाया पर मदान्ध रावण न माना। रावण के दुराग्रह के कारण विभीषण उन्हें छोड़कर राम की शरण में आ गया (68.499-500)।

संधि प्रस्तावों को अस्वीकार किये जाने पर अन्ततः दोनों पक्षों की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। भारी रक्तपात के पश्चात् लक्ष्मण ने रावण का शिरच्छेदन कर दिया (68.628-29)।

राम ने मन्दोदरी आदि रानियों को धैर्य बंधाया। लंका का समस्त विजित राज्य व वैभव विभीषण को प्रदान किया और निर्दोष सीता को स्वीकार कर वहाँ से विहार किया।

उत्तरत्रय बयालीस वर्षों तक दिग्विजय-यात्रा कर अर्द्ध-चक्रवर्ती बन वे अयोध्या लौटे जहाँ लक्ष्मण ने पृथ्वीसुन्दरी आदि सोलह हजार रानियों व राम ने आठ हजार रानियों सहित वैभव के साथ राज्य किया।

कुछ समय पश्चात् राम व लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न को अयोध्या का राज्य प्रदान कर वाराणसी लौट आये। कुछ समय बाद लक्ष्मण की मृत्यु हो गयी। भ्रातृ-वियोग से सन्तप्त राम ने सांसारिक भोगों से विरक्त होकर लक्ष्मण के पुत्र को वाराणसी का राज्य प्रदान किया। सीता के आठ पुत्रों में विजयराम आदि सात बड़े पुत्रों द्वारा राज्य लेने से इंकार किये जाने पर कनिष्ठ पुत्र अजितजय को मिथिला का राज्य प्रदान किया और स्वयं ने दीक्षा धारण कर ली। उनके साथ अणुमान्, सुग्रीव, विभीषण, पाँच सौ अन्य राजाओं व उनके एक सौ अस्सी पुत्रों ने भी दीक्षा धारण की। मुनिदशा में 395 वर्ष व्यतीत होने के बाद राम को केवलज्ञान प्रकट हुआ (68.715-16)। केवलज्ञान के प्रकट होने के 600 वर्ष पश्चात् राम व अणुमान् को सिद्ध-पद प्राप्त हुआ। सीता व पृथ्वीसुन्दरी आदि अच्युत स्वर्ग में गयीं।

इस प्रकार आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में रामकथा की सरिता प्रवाहित है। इसके परिप्रेक्ष्य में इसी के समानान्तर अपभ्रंशभाषी महाकवि पुष्पदंत रचित महापुराण में समाहित रामकथा प्रस्तुत है<sup>4</sup>—

महाकवि पुष्पदंत भी रामकथा का प्रारम्भ राम के तीन भव पूर्व के प्रसंग से करते हैं (अपभ्रंश म०पु० 69.4)। तथ्य व घटनाओं का निरूपण उसी प्रकार का है। इसमें भी राजपुत्र चन्द्रचूल, तदनन्तर मणिचूल, उत्तरत्रय लक्ष्मण तथा मंत्रीपुत्र विजय, स्वर्णचूल व राम की परम्परा प्राप्त होती है (69.10)।

पुष्पदंत ने भी राजा दशरथ को वाराणसी का शासक बताते हुए सुबाला नाम की रानी से ही राम का तथा केकयी से ही लक्ष्मण का जन्म होना बताया है (म.पु.69.12)। उत्तरपुराण की भाँति ही पुष्पदंत के कथानक में भी कुछ समय पश्चात् राजा दशरथ

अयोध्या का राज्य संभालते हैं। अयोध्या में ही उनकी तीसरी रानी से भरत तथा चतुर्थ रानी से शत्रुघ्न का जन्म होता है (69.14)। यहाँ पुष्पदंत के कथानक में आचार्य गुणभद्र के कथानक से किंचित् असमानता दृष्टिगत होती है। गुणभद्र ने दशरथ की तीन रानियों का उल्लेख किया है और बताया है कि तीसरी रानी ही भरत व शत्रुघ्न की जन्मदात्री थी, पुष्पदंत ने चार रानियों का उल्लेख किया है और उनके अनुसार भरत व शत्रुघ्न का जन्म पृथक्-पृथक् रानियों से होता है। पर यहाँ दोनों में एक समानता भी है, दोनों ही कवि मात्र दो ही रानियों के नाम स्पष्ट करते हैं, शेष के नहीं।

अपभ्रंश महापुराण में भी मिथिला के राजा जनक यज्ञ-रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को आमंत्रित करते हैं और अपनी पालिता पुत्री सीता का राम के साथ विवाह करते हैं (69.15)। इस महापुराण के अनुसार सीता अपने पूर्व भव में अलकापुरी के राजा की पुत्री मणिवती के रूप में थी जबकि गुणभद्र के अनुसार वह स्थालकनगर की राजपुत्री थी। सीता के जन्म से निर्वासन तक का शेष घटनाक्रम दोनों महापुराणों में समानरूप से प्राप्त होता है (70.6-7)।

पुष्पदंत की रामकथा में उल्लेख है कि बालिका सीता के परित्याग के समय मंजूषा में नवजात बालिका व धन के साथ एक पत्र भी रखा गया जिसमें लिखा था कि यह बाला रावण की पुत्री है और इसका नाम सीता है।<sup>5</sup> यहाँ सहज जिज्ञासा होती है कि जब पितृ-ग्रह में ही उस बालिका का "सीता" अभिधान हो गया था तो स्वाभाविक है कि रावण भी उस नाम से परिचित रहा ही होगा और जब नारद उसके समक्ष सीता के सौन्दर्य का वर्णन करता है तब तथा तत्रोत्तर अन्य घटनाओं के दौरान क्या रावण को एक बार भी अपनी परित्यक्ता/निर्वासिता पुत्री "सीता" का स्मरण/ध्यान नहीं आया? क्या उसे यह आभास नहीं हुआ कि मेरे भी "सीता" नाम की पुत्री थी जो मेरे विनाश का कारण बताई गई थी, संभव है यह "सीता" वही हो अतः मैं इसका अपहरण न करूँ अथवा अपहरण करने के बाद भी लौटा दूँ?

मंजूषा से सीता की प्राप्ति, जनक द्वारा उसका पालन-पोषण, यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति पर दशरथपुत्र राम के साथ उसका विवाह आदि घटनाएँ गुणभद्र की रामकथा के समान ही हैं (70.9-13)।

राम द्वारा वाराणसी के राज्य को पुनः हस्तगत करना, युद्धप्रिय नारद द्वारा सीता के सौन्दर्य वर्णन को सुनकर रावण का भ्रमित होना भी समानतायुक्त है (70.16-17)। इसी प्रकार रावण का सीता पर आसक्त हो जाना, नानाविध समझाये जाने पर भी अपना दुराग्रह न छोड़ना, अपनी बहन चन्द्रनखा को सीता की मनोदशा परखने व अपने प्रति आसक्त करवाने हेतु बनारस भेजना, उसका अपने उद्देश्य में असफल होकर लौट आना आदि तथ्य भी समानता लिए हुए हैं परन्तु गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में रावण की बहिन का नाम सूर्यनखा बताया गया है और पुष्पदंत कृत महापुराण में चन्द्रनखा।

तदनन्तर रावण मारीच के साथ वाराणसी जाते हैं। मारीच मायावी भृगुशावक के रूप में प्रकट होता है, स्वयं रावण राम का रूप बनाकर आता है और छल से सीता का

अपहरण कर लेता है। यहाँ किंचित् कथावैषम्य है। पुष्पदंत ने बताया है कि राम मायावी मृगशावक का अनुगमन करते हैं, शावक कुछ दूर तक जाने के बाद रावण के पास लौट आता है। रावण, राम का रूप धारणकर उस मृगशावक को लेकर सीता के पास आता है और उसे वह मृगशावक दिखाकर विमान में बैठा लेता है, सीता वाञ्छित मृग व राम को देखकर विमान में बैठ जाती है और इस प्रकार प्रवंचना से रावण उसका अपहरण कर लेता है (72.5) जबकि गुणभद्र ने सीता के सम्मुख दोबारा मृगशावक को नहीं दिखाया है।

लंका पहुँचने पर रावण के दुरभिप्राय का ज्ञान, उसके लिए पुनः पुनः दुराग्रह करना, नवीन प्रस्ताव रखना, प्रलोभन देना, मन्दोदरी द्वारा पुत्री को पहचान लेना आदि तथ्य भी दोनों में समानरूप से प्राप्त होते हैं (72.8)।

इसी प्रकार राम का विरह, दशरथ के दूत द्वारा सीता अपहरण का ज्ञान, अपहर्ता के बारे में जानकारी (73.3-5) तथा हनुमान् के दूत-कार्य सम्बन्धी तथ्य भी दोनों महापुराणों में समानता लिए हुए हैं।

गुणभद्र के महापुराण के समान ही पुष्पदंत के महापुराण में भी विभीषण अपने भाई रावण को समझाता है पर रावण अपनी हठ पर अडिग रहता है तब विभीषण रावण का साथ छोड़कर न्यायपक्ष स्वीकार कर राम की शरण ग्रहण करता है (74.9-12)। रावण संधि-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। परिणामस्वरूप भीषण युद्ध होता है। इन सब घटनाओं में समानता है, पर युद्ध-वर्णन में कथंचित् भेद प्राप्त होता है। पुष्पदंत (की रामकथा) के युद्ध-वर्णन में रावण राम को भयभीत करने हेतु इन्द्रजाल दिखाता है जिसमें मायावी युद्ध में सीता-मरण की माया दिखा कर राम को भ्रमित करना चाहता है। यह कथांश गुणभद्र की रामकथा में नहीं है।

अग्रे लक्ष्मण द्वारा रावण का वध होता है तत्पश्चात् लंका-विजय कर समस्त वैभव व राज्य विभीषण को प्रदान कर (78.28-29) राम-लक्ष्मण आदि विश्वविजय हेतु प्रयाण करते हैं। बयालीस वर्ष पश्चात् त्रिखण्डपृथ्वी जीतकर वे अयोध्या लौटते हैं (79.4) जहाँ राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक किया जाता है। दोनों सुखपूर्वक राज्य करते हैं। तब दशरथ की मृत्यु हो जाने पर (79.9.4) भरत-शत्रुघ्न को अयोध्या का राज्य प्रदान कर राम-लक्ष्मण बनारस लौट आते हैं। यहाँ दोनों महापुराणों की कथा में तथ्य-भिन्नता प्राप्त होती है। गुणभद्र के पुराण में दशरथ-मृत्यु का संकेत नहीं मिलता जबकि पुष्पदंत के पुराण में राम-लक्ष्मण द्वारा त्रिखण्डपृथ्वी जीतकर आने के बाद दशरथ की मृत्यु का उल्लेख प्राप्त होता है। बनारस आने के कुछ वर्षों बाद लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती है। लक्ष्मण की निधन-तिथि के सम्बन्ध में दोनों रामकथाओं में भिन्नता है। गुणभद्र माघ मास की अमावस्या के दिन लक्ष्मण का निधन होना बताते हैं जबकि पुष्पदंत माघ की पूर्णिमा (79.11) को।

भ्रातृ-वियोग के पश्चात् राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीचन्द को वाराणसी का राज्य प्रदान करते हैं और राम के सात बड़े पुत्र विजयराम आदि राज्य-सम्पदा लेना अस्वीकार

कर देते हैं तब कनिष्ठ पुत्र अजितंजय ही मिथिला का राज्य संभालता है और राम दीक्षा धारण कर लेते हैं। ये सब तथ्य समानरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु दोनों कथानकों में राम की दीक्षा के पश्चात् मुनिदशा-काल को लेकर कुछ भिन्नता है। पुष्पदंत ने मुनिदशा की स्थिति 345 वर्ष व केवलज्ञान के बाद की स्थिति 650 वर्ष बताई है जबकि गुणभद्र ने क्रमशः 395 व 600 वर्ष का समय बताया है फिर भी दीक्षा के पश्चात् आयु समाप्ति तक के वर्षों का योग दोनों में समान (995 वर्ष) ही है। राम व हनुमान् केवलज्ञान प्राप्त कर सम्मेदशिखर से सिद्ध-पद प्राप्त करते हैं (यहाँ ध्यातव्य है कि पुष्पदंत व गुणभद्र दोनों ने ही राम का निर्वाण सम्मेदशिखर पर्वत से बताया है, जबकि निर्वाणकाण्ड पाठ, जो कि प्राकृतभाषी प्राचीन गाथाबद्ध कविता है, में उल्लेख है कि तुंगगिरि से राम मोक्ष गए)। सीता व पृथ्वीसुन्दरी देवगति प्राप्त करती हैं।

इस प्रकार कुछ सामान्य तथ्यात्मक भिन्नताओं के अतिरिक्त दोनों महापुराणों की रामकथा में प्रायः समानता है। दोनों कथानक समानान्तर रूप से विकसित हुए हैं। यदि हम इन्हें भाषात्मक रूपान्तर कहें तो वह भी उचित होगा। कहीं-कहीं तो उपमा-सादृश्य भी दृष्टिगत होता है। यथा—जब नारद सीता के प्रति रावण को आसक्त करता हुआ कहता है कि—सीता सर्वथा आपके ही योग्य है क्योंकि गंगा सदैव समुद्र के ही योग्य होती है नदी-नालों के नहीं (गुणभद्र कृत-म. पु. 68.103, पुष्पदंत कृत-म. पु. 71.2)।<sup>१०</sup> एक का प्रभाव दूसरे पर स्पष्ट परिलक्षित है पर कौन प्रभावित है और कौन प्रभावक यह जानने के लिए दोनों के कालक्रम के अनुसार पूर्वापरत्व का विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि कवि पुष्पदंत पर आचार्य गुणभद्र का प्रभाव है क्योंकि गुणभद्र पुष्पदंत के पूर्ववर्ती हैं। गुणभद्र का समय 9वीं शताब्दी तथा पुष्पदंत का 10वीं शताब्दी है, दोनों एक ही धारा के पोषक हैं।

जैन वाङ्मय में रामकथा विषयक एक और धारा आचार्य विमलसूरि की है यही सर्वाधिक प्रचलित भी है जिसका अनुकरण आचार्य रविषेण ने किया है। यहाँ दोनों धाराओं में व्याप्त समानता-असमानता, नवीनता-मौलिकता देखने के लिए इस धारा की जानकारी भी प्रासंगिक होगी अतः रविषेण के पद्मपुराण का अतिसंक्षिप्त कथा-सार प्रस्तुत है—

राक्षसवंशी राजा रत्नश्रवा के रावण, कुम्भकर्ण व विभीषण नाम के तीन पुत्र तथा चन्द्रनखा नाम की एक पुत्री थी। उसी काल में इक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ अयोध्या में राज्य करते थे और राजा जनक मिथिला में। एक दिन रावण को ज्ञात हुआ कि राजा जनक व राजा दशरथ की सन्तानें उसकी मृत्यु का कारण बनेंगी। सन्तानों की सम्भावना ही न रहे इस विचार से रावण ने राजा जनक व राजा दशरथ की हत्या कराने का प्रयत्न किया इसके लिए इन्होंने विभीषण को भेजा, परन्तु नारद ने दोनों राजाओं को इसकी पूर्व सूचना दे दी जिससे सतर्क होकर दोनों ने अपनी कृत्रिम आकृतियाँ बनवा कर अपने शयनकक्ष में रखवा दीं। विभीषण ने उन आकृतियों को ही राजा समझा और दोनों के मस्तक काट दिये।

राजा दशरथ के चार रानियाँ थीं। अपराजिता (कौशल्या), सुमित्रा, केकयी व सुप्रभा जिनसे क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न का जन्म हुआ। विवाह के समय ही

राजा दशरथ ने केकयी को एक वर दिया था जिसे उसने सुयोग्य अवसर के लिए सुरक्षित करा लिया ।

राजा जनक के भामण्डल व सीता दो सन्तानें थीं । किसी पूर्वशत्रुता के कारण भामण्डल का बालपन में ही अपहरण हो गया । युवा होने पर एक दिन नारद ने उसे सीता का चित्र दिखाया जिसे देखकर वह सीता पर मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने के लिए मिथिला पर आक्रमण करने को तत्पर हो उठा पर मिथिला-दर्शन से उसे अतीत का स्मरण हो गया जिससे उसे ज्ञात हुआ कि सीता तो उसकी सहोदरा है, तब उसने अपनी दुर्भावना का नाश किया ।

राजा जनक ने सीता-स्वयंवर का आयोजन किया जिसमें वज्रावर्त धनुष को चढ़ाने की शर्त रखी गई । दशरथपुत्र राम इस शर्त को पूर्ण करने में सफल हुए और सीता से उनका विवाह हो गया ।

कुछ समय पश्चात् दशरथ ने राम का राज्याभिषेक कर स्वयं संन्यास धारण करना चाहा । केकयी ने अपने पूर्वस्वीकृत वरपूर्ति के लिए यही अवसर उपयुक्त जानकर राजा से अपने पुत्र भरत के लिए राज्य व राम के लिए वनवास मांगा । तदनुरूप राम, लक्ष्मण व सीता वनवास हेतु दक्षिण दिशा की ओर चल दिए । भरत द्वारा भर्त्सना किये जाने पर केकयी को अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और वह भरत के साथ राम को वापस लाने के लिए वन में गयी पर राम ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । राजा दशरथ ने विरक्त होकर संन्यास धारण कर लिया ।

वनवास में लक्ष्मण से अनायास ही रावण की बहिन चन्द्रनखा के पुत्र का वध हो गया । चन्द्रनखा पुत्रवध का बदला लेने आई और लक्ष्मण को देखकर उस पर मोहित हो गयी पर लक्ष्मण ने उसकी अवहेलना की । अपमान की तपन से तप्त चन्द्रनखा ने अपने पति खरदूषण व भाई रावण को राम-लक्ष्मण के विरुद्ध बहकाकर उत्तेजित किया और युद्ध के लिए प्रेरित किया । तत्पश्चात् रावण ने छल से सीता का अपहरण किया जिसके परिणामस्वरूप भीषण युद्ध हुआ । युद्ध में राम ने रावण का वध किया और लंका पर विजय प्राप्त की ।

वनवास की अवधि समाप्त कर राम अयोध्या लौटे । रावणगृहनिवास के कारण लोकनिन्दा व लांछनवश सीता को निर्वासित कर दिया गया । निर्वासन-काल में सीता ने लवण व अंकुश दो पुत्रों को जन्म दिया जिन्होंने दिग्विजय-यात्रा के समय अपने पिता राम से युद्ध किया तब राम को ज्ञात हुआ कि ये मेरे ही पुत्र हैं । सीता को अग्निपरीक्षा के द्वारा अपना सतीत्व सिद्ध करना पड़ा पर सीता के सतीत्व के प्रभाव से वह अग्नि कुण्ड शीतल सरोवर में परिवर्तित हो गया । राम ने सीता से राजप्रासाद में चलने का अनुरोध किया जिसे सीता ने अस्वीकार कर दिया और दीक्षा धारणकर आर्थिकापद ग्रहण किया ।

राम की मृत्यु का असत्य समाचार सुनने पर आतृवियोग के कारण लक्ष्मण का निधन हो गया । राम इस घटना से बहुत दुःखी हुए और छह मास तक लक्ष्मण का शव लेकर घूमते रहे । फिर संबोधि प्राप्त कर जिनदीक्षा धारण की और तपश्चर्यापूर्वक कर्मकलंक नष्ट कर मुक्त हो गये ।

गुणभद्र की रामकथा की अपेक्षा रविषेण की रामकथा अधिक प्रचलित है। दोनों धाराओं में पर्याप्त वैषम्य है? -

1. प्रथम धारा के अनुसार राजा दशरथ मूलतः अयोध्या के ही राजा थे जबकि द्वितीय धारा में राजा दशरथ के बनारस से अयोध्या जाने का प्रसंग है।

2. प्रथम धारा में दशरथ की चार रानियों से चार पुत्रों के जन्म का उल्लेख है और द्वितीय धारा में गुणभद्र ने तीन रानियों का तथा पुष्पदंत ने चार रानियों का उल्लेख किया है।

3. प्रथम धारा में भरत को केकयी का पुत्र बताया है किन्तु द्वितीय धारा में लक्ष्मण को केकयी का पुत्र बताया गया है।

4. प्रथम धारा में सीता जनक की पुत्री है जबकि द्वितीय धारा में सीता रावण की पुत्री है जिसका पालन जनक करते हैं।

5. प्रथम धारा में स्वयंवर व धनुष चढ़ाने की शर्त द्वारा राम-विवाह का प्रसंग है और द्वितीय धारा में यज्ञ-रक्षा द्वारा।

6. प्रथम धारा में केकयी के वरदान द्वारा भरत को राज्य व राम-वनवास की कथा है परन्तु द्वितीय धारा में वनवास का प्रसंग नहीं है क्योंकि इसमें लक्ष्मण को केकयी का पुत्र बताया गया है अतः इस तथ्यात्मक भिन्नता के कारण राम-वनवास व भरत को राज्य आदि का प्रश्न ही नहीं उठता।

7. प्रथम धारा में वनवासकाल में सीता का अपहरण होता है और सीताहरण का कारण चन्द्रनखा बनती है जबकि द्वितीय धारा में नारद के बहकाने पर रावण बनारस जाकर सीता का अपहरण करता है और चन्द्रनखा (सूर्यनखा) को अपनी दूती बनाता है।

8. प्रथम धारा में सीता के अपहरण के समय राजा दशरथ संन्यास धारण कर चुके होते हैं जबकि द्वितीय धारा में स्वप्न द्वारा पूर्वाभास के आधार पर दशरथ ही सीता के अपहरण का तथ्योद्घाटन करते हैं।

9. प्रथम धारा में लोकापवाद के कारण सीता-निर्वासन का प्रसंग है और उसी काल में लवण और अंकुश दो पुत्रों के जन्म का वर्णन है। द्वितीय धारा में सीता-निर्वासन का वर्णन नहीं है, बनारस में ही विजयरामादि आठ पुत्रों के होने का उल्लेख है।

10. प्रथम धारा में सीता की अग्निपरीक्षा की घटना का समावेश है जबकि द्वितीय धारा में इस प्रसंग का पूर्णतः अभाव है।

11. प्रथम धारा में लक्ष्मण की मृत्यु का कारण एक असत्य समाचार है तथा राम द्वारा लक्ष्मण के शव को छः मास तक लेकर घूमने का वर्णन है परन्तु द्वितीय धारा में किसी असाध्य रोग के कारण लक्ष्मण की मृत्यु होती है और राम उनकी मृत्यु के बाद स्थिरचित्त रहकर वैराग्य धारण करते हैं।

12. प्रथम धारा में भरत का पर्याप्त महत्त्व दृष्टिगत होता है जबकि द्वितीय धारा में उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुणभद्र एवं पुष्पदंत की परम्परा में पर्याप्त नवीनता है। यह रामकथा प्रचलित प्राचीन परम्परा से सर्वथा भिन्न है। अतः जिज्ञासा होती है कि गुणभद्र (९वीं शताब्दी) ने पूर्ववर्ती प्रचलित रामकथाओं का आश्रय न लेकर यह नवीन परम्परा किस आधार से प्राप्त की है? गुणभद्र का आधार बहुत कुछ अज्ञात है। आचार्य जिनसेन (गुणभद्र के गुरु) अपने आदिपुराण में कवि परमेश्वर की गद्य-कथा का उल्लेख करते हैं और उसे अपनी रचना का आधार मानते हैं।<sup>8</sup> गुणभद्र जिनसेन की शेष रचना पूर्ण करते हैं अतः संभव है कि वे भी गुरु की भाँति कवि परमेश्वर की कथा पर निर्भर रहे हों। कवि परमेश्वर की रचना अप्राप्य है।

पण्डित नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि गुणभद्र से बहुत पहले विमलसूरि के ही समान किसी अन्य आचार्य ने भी स्वतंत्र रूप से जैनधर्म के अनुकूल सोपपत्तिक और विश्वसनीय रामकथा लिखी होगी और वह गुणभद्राचार्य को गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त हुई होगी।<sup>9</sup>

इस प्रकार अपभ्रंश महाकवि पुष्पदंत ने गुणभद्र की इस नवीन धारा को अपने महापुराण की रामकथा का आधार बनाया है यह स्पष्ट है।

1. पद्मपुराण - आचार्य रविषेण, प्रस्तावना पृष्ठ 13  
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ
2. रामकथा - कामिल बुल्के, पृष्ठ 65, अनु. 57  
प्रकाशक - हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय
3. उत्तरपुराण - आचार्य गुणभद्र, 67-68 पर्व  
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ
4. महापुराण - महाकवि पुष्पदंत, 69 पर्व से प्रारम्भ  
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ
5. आलिहिउं पत्तु मच्छरकराल, रावण देहुभव एह बाल।  
बहु दुक्खजोगि बंधुहं असीय, सुविसुद्धवंस णामेण सीय ॥ (अप. म. पु. 70.8)
6. (अ) सुरसरि भसमुद्धहु होई समुद्धहु णउ जम्मि वि पंकय सरहं।  
(पुष्प. म. पु. 71.2)
- (ब) धन्यान्यत्र न सा स्थातु योग्या भाग्यविहीनके।  
मन्दाकिन्याः स्थिति क्व स्यात् प्रविहत्य महाम्बुधिम् ॥  
(गुण. म. पु. 68.103)
7. यहाँ आचार्य रविषेण की रामकथा के लिए "प्रथम धारा" व आचार्य गुणभद्र की रामकथा के लिए "द्वितीय धारा" शब्द का प्रयोग किया गया है।
8. आदिपुराण - आचार्य जिनसेन, 1.60, प्रस्तावना पृष्ठ 282  
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ
9. जैन साहित्य और इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 282  
सम्बन्धित लेख - पद्मचरित और पउमचरिउ

## जीवन की क्षणभंगुरता

छरिण छरिण जडयणु कि हरिसिज्जहि,  
आउ वरिसवरिसेण जि खिज्जइ ।

जीय भणंतहं विहसइ तूसइ,  
मर पभणंतहं रंजइ रूसइ ।

ण सहइ मरणह केरउ णाउं वि,  
पहरणु धरइ फुरइ णित्थाउ वि ।

खयकालहु रक्खंति ण किंकर,  
मय मायंग तुरंगम रहवर ।

खयकालहु रक्खंति ण केसव,  
चक्कवट्टि विज्जाहर वासव ।

होइ विसूई सप्पे घेप्पइ,  
दाढिविसाणिमृर्गाहि दारिज्जइ ।

जलि जलयर थलि थलयर वइरिय,  
णहि णहयर भक्खंति अवारिय ।

तो वि जीउ जीवेवइ वंछइ,  
लोहें मोहें मोहिउ अच्छइ ।

अर्थ—मूर्ख जीव प्रतिक्षण क्यों हर्षित होता है जबकि आयु प्रतिवर्ष क्षीण होती है? यह जीव 'जीवो' ऐसा कहने पर हंसता और संतुष्ट होता है और 'मर' ऐसा कहनेवालों पर गर्जता और क्रोधित होता है, मरने का नाम भी सहन नहीं करता, निर्बल होते हुए भी स्फुरित होकर शस्त्र उठा लेता है किन्तु मरणकाल में नौकर-चाकर, मत्त हाथी, घोड़ा, रथवान, केशव, चक्रवर्ती, विद्याधर और इन्द्र इनमें से कोई भी उसकी रक्षा नहीं करते। उसे हैजा हो जाता है, सर्प डस लेता है, डाढ़ और सींगवाले जानवर उसे फाड़ डालते हैं। जल में जलचर, थल में थलचर जीव ही उसके वैरी हैं और आकाश में नभचर जीव बिना विलम्ब किए उसका भक्षण कर लेते हैं तो भी यह जीव लोभ और मोह से मोहित होकर जीने की इच्छा रखता है।

— महापुराण : 38.19



# महाकवि पुष्पदंत का दार्शनिक ऊहापोह

— डॉ० भागचंद जैन “भास्कर”



महाकवि पुष्पदंत अपभ्रंश के जाने-माने शीर्षस्थ साहित्यकार हैं। उनके पिता का नाम केशव भट्ट तथा माता का नाम मुग्धा था। वे काश्यप गौत्री ब्राह्मण थे। जीवन के प्रथम काल में उनका परिवार शैवधर्मावलम्बी था पर बाद में किसी जैनाचार्य के उपदेश से उन्होंने जैनधर्म धारण कर लिया था।<sup>1</sup> उनका वर्ण श्याम था, शरीर कृश था, सारा परिवार जिनभक्त और सात्विक था। कवि ने स्वयं को सर्वत्र अभिमानमेरु कहा है पर वे विनम्र और स्मितवदन भी थे।<sup>2</sup> उनके विवाह आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अधिक संभव यही है कि वे एकाकी रहे हों। इसलिए उन्हें धन की भी कभी चाह नहीं रही। उनकी निर्द्वन्द्वता और स्वाभिमानवृत्ति के पीछे कदाचित् यह भी एक कारण था। वे मृत्यु का आर्लिगन कर सकते थे पर किसी की भृकुटि सहन करने को तैयार नहीं थे।<sup>3</sup>

मालवनरेश हर्षदेव ने 972 ई० में मान्यखेट का विध्वंस कर डाला जिसका उल्लेख महाकवि ने महापुराण में किया है। इस घटना से कवि का समय आसानी से निश्चित किया जा सकता है। मान्यखेट की विनाशलीला को उन्होंने स्वयं देखा था इसलिए इतना तो निश्चित है कि वे सन् 972 तक जीवित थे। इसके बाद की उनकी जीवन-यात्रा अज्ञात है। अमात्य भरत और उनका पुत्र नन्न दिगम्बर जैन आम्नाय के पोषक थे। दोनों ने पुष्पदंत का भरपूर सम्मान किया। धर्मवत्सलता और गुणधर्मिता ने कवि को जोड़े रखा अन्त तक। इसलिए कवि ने मात्र कृतज्ञता ही स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं की बल्कि उनके व्यक्तित्व

की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है। जैसे अपमान मिलने पर उन्हें संसार से वितृष्णा हो गई थी वैसे ही भरत और नन्न का आश्रय पाने से उन्हें धर्म कथा की ओर रुचि हो गई थी। इन कथाओं के माध्यम से ही उन्होंने अपने सारे मनोभावों को चित्रित कर दिया है।

महाकवि पुष्पदंत साहित्यरसिक और रससिक्त कवि थे। उनकी दृष्टि से काव्य वही है जो सालंकार हो,<sup>4</sup> अर्थयुक्त हो,<sup>5</sup> सरस हो,<sup>6</sup> छंद की मात्राओं से निर्दोष हो<sup>7</sup> एवं प्रसादगुणयुक्त हो।<sup>8</sup> कवि का काव्य निःसन्देह इस निष्कर्ष पर खरा उतरता है। उनके जीवन दर्शन ने इसमें और निखार ला दिया है। उनकी दार्शनिकता भी इसके पीछे-पीछे चलती है।

कवि की रचनाधर्मिता के साथ अधर्म और हिंसा की मूल मान्यताओं का खण्डन कर धर्म और अहिंसा को सुप्रतिष्ठित करने का मूल उद्देश्य जुड़ा हुआ है। इस उद्देश्य में कवि सफल भी हुआ है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के साथ एक अन्य पक्ष भी सम्बद्ध है, जैन-दर्शन का प्रतिपादन कर जैनतर दर्शनों का ऊहापोह। महाकवि का यद्यपि यह मूल उद्देश्य नहीं रहा फिर भी कथाचरित ग्रंथों में यथावसर उन्होंने इस पक्ष को उपेक्षित नहीं रखा। इसमें भी उन्होंने ऐसे पक्षों को लिया है जिनसे धर्म की मूल भित्ति ढह रही थी। वैशिष्ट्य यह है कि दार्शनिक विचारधारा व्यक्त करते समय उनका न तो महाकवित्व शुष्क हुआ और न कथा-प्रवाह में किसी तरह का अवरोध आया। समूचा खण्डन-मण्डन सरस, संक्षिप्त और गम्भीर रहा है। यह इतना अधिक संक्षिप्त पर सुसम्बद्ध है कि पाठक उसे पढ़कर बिलकुल ऊबता नहीं बल्कि सरसता का अनुभव करता है। इस खण्डन प्रणाली में दार्शनिकता, काव्यरसिकता तथा व्यावहारिकता का सुन्दर समन्वय हुआ है।

महाकवि ने कपिल के सांख्य-दर्शन का खण्डन किया है। सांख्य-दर्शन के अनुसार पुरुष चैतन्यरूप होते हुए भी निष्क्रिय, निर्मल और विशुद्ध है। जड़ प्रकृति निष्क्रिय चेतन के संयोग से सृष्टि का सम्पादन करती है। इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कवि ने कहा है कि एक ही तत्त्व नित्य है ऐसा क्यों माना जाता है? यदि वह सही है तो एक जो देता है उसे दूसरा कैसे लेता है? जब एक स्थित है तो अन्य कैसे दौड़ते हैं? एक मरता है तो अन्य कैसे जीवित रहते हैं? यदि पुरुष को नित्य माना जाता है तो वह किस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त करता है? सांख्य-दर्शन के अनुसार पुरुष क्रियारहित, निर्मल और शुद्ध है तब फिर वह प्रकृति द्वारा बंधन में कैसे पड़ जाता है? क्रिया के मन, वचन और काय का क्या स्वरूप होगा तथा बिना कुछ कर्म किये अनेक जन्मों का ग्रहण भी कैसे होगा? बिना क्रिया के जीव पाप से कैसे बंधेगा? कैसे उससे मुक्त होगा? यह सब विरोधी प्रलाप किस काम का?

चार्वाक भौतिकतावादी दर्शन है। कवि ने उसका भी खण्डन किया है। महापुराण में राजा महाबल के मन्त्री स्वयंबुद्ध, रायकुमारचरिउ में मुनि पिहिताश्रव तथा जसहर-चरिउ में एक जैन मुनि इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। चार्वाक की दृष्टि में चारों भूतों के संमिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है जैसे - गुड़, जल आदि के मिश्रण से मद्य-शक्ति। आत्मा और शरीर में भी कोई भेद नहीं है। स्वयंबुद्ध कहता है कि यदि भूतचतुष्टय

से आत्मा की उत्पत्ति होती तो औषधियों के क्वाथ से किसी भी पात्र में जीव-शरीर उत्पन्न हो जाते, परन्तु ऐसा होता नहीं।<sup>9</sup> पंच भूतों में परस्पर विरोधिता है तो वे एक भावात्मकता का प्ररूपण कैसे करते ? सभी जीवों का स्वभाव एक-सा क्यों नहीं ?<sup>10</sup> जसहरचरिउ में तलवर (कोतवाल) भौतिकतावादी है। मुनि ने उसके मन्तव्य का खण्डन किया है। उन्होंने कहा कि यह जीव कर्म के कारण संसार में भटकता रहा है, विविध जन्म धारण करता रहा है, पंचेन्द्रिय सुखों से मात्र दुःख मिला है इसलिए मैं इस कर्मजाल को तपस्या के माध्यम से निर्जीर्ण करने में लगा हुआ हूँ। जीव और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् हैं। यह शरीर बैलगाड़ी के समान है। जिस प्रकार बैल के बिना गाड़ी नहीं चल सकती उसी प्रकार जीव के बिना देह नहीं चल सकता। फिर स्वकृत कर्मों का फल भोगना भी अनिवार्य है।

कोतवाल (तलवर) ने पुनः पुष्प और गन्ध की अभिन्नता का उदाहरण देकर जीव और शरीर की एकात्मकता को सिद्ध करने का आग्रह किया। मुनि ने उत्तर दिया — जैसे चम्पक पुष्प तेल में डालने से तेल सुगन्धित हो जाता है पर चम्पक का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इसी तरह जीव और शरीर पृथक्-पृथक् ही मानना पड़ेगा। जहाँ तक उसके अदृश्य रहने का प्रश्न है, उससे उसके अस्तित्व पर प्रश्न/संदेह नहीं किया जा सकता। वह तो अपने अमूर्तत्व गुण के कारण दिखाई नहीं देता। शब्द दिखाई नहीं देता पर कान के द्वारा सुनाई तो देता ही है। अतः जीव की सत्ता अनुमान द्वारा ही गम्य है। ये स्थूल इन्द्रियां उस सूक्ष्म सत्ता को देख नहीं सकतीं।

जीव का शरीर से कैसे निर्गमन होता है और कैसे जन्म धारण करता है उसका उत्तर देते हुए मुनि ने पुनः स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार लोहा चुम्बक से आकर्षित होता है उसी प्रकार जीव (आत्मा) अपने कृतकर्मों के कारण संसार में जन्म-मरण लेता रहता है।

मुनि ने आगे और भी तर्कों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। उन्होंने कहा कि यदि आत्मा सदैव एकरूप, निश्चल और निष्क्रिय रहेगा तो कर्मबंध कैसे होगा ? गुरु-शिष्य आदि जैसे सम्बन्ध कैसे बनेंगे ? यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध है तो स्वर्ग, मोक्ष की कामना की क्या आवश्यकता ? जीव के बिना फिर शय्या-स्पर्श, रसास्वादन आदि कैसे होगा ? कौन करेगा ? बिना जीव के पाँचों तत्त्व निश्चेष्ट हैं।

चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। ऐसी स्थिति में फिर वह अपने घर में रखे अदृश्य धन को देख-जान नहीं सकेगा। दूरवर्ती, सूक्ष्मवर्ती और तिरोहित द्रव्यों को भी समझ नहीं सकेगा। गाना-बजाना, मरना, इन्द्रियसुख भोगना आदि कार्य आत्मा के अस्तित्व को माने बिना संभव नहीं हो सकते। वह अनुभव से अनुमित ही होता है अमूर्त गुण के कारण द्रष्टव्य नहीं।

इस तरह महाकवि ने तलवर (कोतवाल) के भौतिकतावादी दृष्टिकोण को सुन्दर व्यावहारिक तर्कों का आश्रय लेकर खण्डित किया है और जैन दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया

है।<sup>11</sup> अन्य मतों की अपेक्षा इसका खण्डन अधिक विस्तार से किया गया है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि उस समय भी भौतिकतावादी-प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य अधिक था।

पुष्पदंत ने बौद्धदर्शन के नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों की भी आलोचना की है। बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से मुक्त होने के लिए अव्याकृतता का सिद्धान्त अपनाया। पर जब आत्मवादी समुदाय से जूझते-जूझते थक गये तो प्रथमतः उन्होंने इस प्रश्न को विभज्यवादी ढंग से टालने का प्रयत्न किया। बाद में 36 धर्मों को अनात्म (अपने नहीं) मानकर उनसे मोहाच्छन्नता को दूर करने का आदेश दिया। धीरे-धीरे यही सिद्धान्त अनात्मवाद के रूप में पंचस्कन्धों के माध्यम से सामने आया। फिर परमार्थसत्य और संवृतिसत्य के आधार पर उसकी व्यवस्था हुई। तदनन्तर सन्ततिवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद तक उसकी यात्रा दिखाई देती है।

बौद्धदर्शन आत्मा को विज्ञान-स्कन्ध का संघात ही मानता है।<sup>12</sup> यह विज्ञानवाद माध्यमिक संप्रदाय के शून्यवाद के विपरीत खड़ा हुआ। इसके अनुसार जगत् के पदार्थ शून्य भले ही हों पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये। सभी ज्ञान चित्त के काल्पनिक परिणामन हैं। आत्मदृष्टि को भी भ्रम-मात्र माना है। इसीलिए कवि ने यह कहकर इसकी आलोचना की है कि यदि विज्ञान भी त्रैलोक्य स्कन्धमात्र ही है तो फिर बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत ही भ्रान्ति के द्वारा भ्रान्ति को कैसे समझा जाय? यदि चेतन क्षण-क्षण में परिवर्तित होता जाता है तो फिर छह मास तक व्याधि की वेदना कौन सहन करता है? यदि वासना के द्वारा ज्ञान प्रकट होता है तो क्या वासना स्वयं क्षण मात्र में विनष्ट नहीं हो जाती? क्या वह पंच स्कन्धों से भिन्न है?<sup>13</sup> बौद्धदर्शन में आत्मा के स्थान की पूर्ति चित्त, नाम, संस्कार अथवा विज्ञान ने की। उसी रूप में उसका यहाँ खण्डन किया गया।

महापुराण में महाबल के मंत्रियों में संभिन्नमति नामक मंत्री क्षणिकवाद का समर्थक है। बौद्धधर्म के सभी संप्रदाय किसी न किसी रूप में क्षणिकवाद को स्वीकार करते हैं। स्थविरवादी मात्र चित्त चैतसिकों की क्षणिकता को स्वीकार करते थे। सर्वास्तवादी वैभाषिक बाह्य जगत् को भी किंचित् क्षणिक मानने लगे। परन्तु सौत्रान्तिक पूर्ण क्षणिकवाद पर विश्वास करने लगे। इसलिए बहुपदार्थवादी बौद्धदर्शन कालान्तर में क्षणभंगवादी दर्शन बन गया। इसके अनुसार समस्त स्वलक्षण पदार्थ अपने स्वभावानुसार जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं उसी क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। इस तरह पूर्वक्षण विनष्ट होकर उत्तर क्षण को उत्पन्न करता और वर्तमान क्षण अस्तित्व में रहकर क्रमबद्धता बनाये रखता है। इस उत्पत्ति और विनाश में उसे किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती। आगे इसी का विकास माध्यमिक संप्रदाय ने शून्यवाद के रूप में किया। सौत्रान्तिक दर्शन में बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्षतः ज्ञेय नहीं माना गया। विज्ञानवाद में उनकी चित्तमात्र के रूप में सत्ता स्वीकृत हुई। पर माध्यमिक में बाह्य और आन्तरिक दोनों पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया गया। यहाँ पदार्थ चतुष्कोटियों से विनिर्मुक्त तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए उसे अभावात्मक नहीं कहा जा सकता किन्तु निरपेक्ष होने के कारण शून्यत्व माना जाता है।<sup>14</sup>

क्षणिकवाद की दृष्टि से ज्ञान भी एक संयोगजन्य वस्तु है। पुष्पदंत महाकवि कहते हैं कि यदि ज्ञान संयोगजन्य वस्तु है तब तो संयोग नष्ट होने पर ज्ञानी को भी लोक के पदार्थ दिखाई नहीं देंगे। यदि क्षणविनाशी पदार्थों में अविच्छिन्न कारण कार्य रूप धाराप्रवाह माना जाय तो गौ के विनाश हो जाने पर दूध कहाँ से दुहा जाता है? दीपक के क्षय हो जाने पर अंजन की प्राप्ति कहाँ से होती है? यदि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार कहा जाय कि क्षण-क्षण में अन्य-अन्य जीव उत्पन्न होता रहता है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो जीव घर से बाहर जाता है वही घर कैसे लौटता है? जो वस्तु एक ने रखी उसे दूसरा नहीं जान सकता। शून्यवादी भी यदि जगत् में समस्त शून्य का ही विधान करता है तो उसके पंचेन्द्रिय दण्डन, चीवरधारण, व्रतपालन, सात घड़ी दिन रहते भोजन तथा सिर का मुण्डन कैसे होता है? <sup>15</sup>

इन सभी दर्शनों का संक्षेप में खण्डन कर महाकवि ने अहिंसाधर्म की श्रेष्ठता को स्थापित किया है। इसी प्रसंग में मोक्ष के स्वरूप पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। तदनुसार मोक्ष न तो गुणों के क्षय का नाम है, न वह शून्यरूप है और न आकाश में आत्मा का विलीन हो जाना मोक्ष है। <sup>16</sup> मोक्ष तो वस्तुतः कर्मों की आत्यन्तिकक्षयजन्य अवस्था का नाम है जिसमें जीव अन्य कर्मफलों से विमुक्त होकर आत्यन्तिकज्ञान-दर्शनरूप अनुपम सुख का अनुभव करता है। <sup>17</sup>

इस प्रकार महाकवि पुष्पदंत ने बड़ी तलस्पर्शिता के साथ प्रमुख भारतीय दार्शनिक पक्षों का खण्डन किया है। उनके कुछ तर्क तो दार्शनिक परम्परा से हटकर व्यावहारिकता के संसार से जुड़े हुए हैं। इसलिए यहाँ तर्क और दर्शन की शुष्कता नहीं बल्कि वह सरसता, गम्भीरता और मनोवैज्ञानिकता से ओत-प्रोत है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने विचार सामाजिक क्षेत्र को विशुद्ध सात्त्विक और जनग्राही बनाने की दृष्टि से भी प्रस्तुत किए हैं। द्रव्यार्जन त्याग और धर्म पर आधारित हो, गरीबों के उद्धार में उसे लगाया जाय <sup>18</sup>, हीनोन्मान आदि का व्यवहार न हो <sup>19</sup>, बालदीक्षा उचित नहीं <sup>20</sup>, बालकों में गुणों के प्रेरक संस्कार जाग्रत किये जायें <sup>21</sup> और सच्चे धर्म के स्वरूप को समझा जाय। <sup>22</sup> इसलिए महाकवि पुष्पदंत कुशल तार्किक और दार्शनिक तो थे ही, साथ ही जीवन-मूल्यों को समझाने की प्रक्रिया में सफल और निःस्वार्थ समाजसुधारक भी। उनके सभी कथा-ग्रंथ अहिंसा की प्रतिष्ठा में जागरूक स्तम्भ हैं जो मानवीय चेतना को भ्रूणकृत कर व्यक्ति को हिंसा से मुक्त करते हैं और सही धर्म मार्ग की ओर जाने के लिए एक लैम्पपोस्ट का काम करते हैं।

1. बंभराण्डं कासवदिसिगोन्तइं, गुरु वयणामयपूरिय सोन्तइं ।  
मुद्धाएवी केसवणामइं, महु पियराइं होंतु सुहधामइं ।  
संयज्जउ जिणभावें लइयहो, रयणत्तयविसुद्धि दंगइहो ।  
— गायकुमार प्रशस्ति ।

2. जसहरचरिउ प्रशस्ति

3. माणभंगि वर मरणु एण जीवउ, एहउ इय सुट्ठुमइंअवउ ।  
— महापुराण 16.21

4. जस. 2.7
5. जस. 2.13
6. गाय 5.2
7. गाय 5.9
8. गाय 7.6
9. महापुराण 20.17.18
10. गाय 9.11
11. जस. 3.19.24
12. जस. 3.25
13. जस. 3.26
14. विशेष देखिये – लेखक का ग्रंथ “बौद्ध संस्कृति का इतिहास” पृ. 120
15. गाय. 9.5, महापुराण 20.19.20
16. गाय. 9.14
17. सर्वार्थसिद्धि 1.1
18. गाय. 7.15
19. जस. 4.19
20. जस. 4.8.15
21. जस. 1.24
22. गाय. 2.6, 4.2, 6.10, 9.12-13  
जस. 1.15, 2.11, 3.4, 3.11, 3.26, 3.30.31, 4.9



# महाकवि पुष्पदंत के आदिपुराण की एक सचित्र पाण्डुलिपि

— डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल



अपभ्रंश भाषा देश की एक सम्पन्न भाषा है जिसका विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। जैनाचार्यों, भट्टारकों, सन्तों एवं कवियों ने इस भाषा को सबसे अधिक प्रश्रय दिया और 8वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी तक इसमें सैकड़ों कृतियाँ लिखी गईं। इस भाषा के माध्यम से दक्षिण एवं उत्तर भारत के विद्वानों में सौहार्द बढ़ा और वे एक दूसरे के विचारों से अवगत होते रहे। अपभ्रंश के प्रमुख कवियों में स्वयंभू, पुष्पदंत, वीर, नयनन्दि, घत्रल, धनपाल एवं रङ्गू के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस भाषा में उच्चकोटि की रचनाएं निबद्ध करके भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। अधिकांश अपभ्रंश साहित्य पुराण, काव्य, चरित एवं कथा-प्रधान होने से अपने युग में बहुत ही लोकप्रिय रहा और उसकी कृतियाँ बड़े ही चाव एवं रुचि से पढ़ी जाती रहीं।

सैकड़ों वर्षों तक अपभ्रंश की रचनाओं को प्राकृत की रचनाएं ही समझा जाता रहा। अपभ्रंश भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण जैन शास्त्र भण्डारों के सभी सूचीपत्रों में अपभ्रंश ग्रंथों की भाषा को प्राकृत भाषा ही लिखा जाता रहा। यह भ्रम अब दूर हो गया है और यह स्वीकार किया जाता है कि अपभ्रंश एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विद्यमान रही है।

महाकवि पुष्पदंत अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवियों में माने जाते हैं। उनकी उपलब्ध तीन कृतियों में महापुराण विशाल पुराण-ग्रंथ है जिसमें त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवनचरित निबद्ध है। जैन परम्परा में त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवन जैनधर्म का इतिहास है, जैन संस्कृति की कहानी है और समूचे देश का प्रतिबिम्ब है। इसलिए अपभ्रंश में पुष्पदंत का महापुराण एवं संस्कृत में आचार्य जिनसेन एवं गुणभद्र का महापुराण सर्वाधिक लोकप्रिय रचनाएं मानी जाती हैं। इनमें पुष्पदंत का आदिपुराण ही एकमात्र ऐसी कृति है जिसकी सचित्र पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है और जो चित्रकला-जगत् में महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है।

आदिपुराण की दो सचित्र पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती हैं— एक पाण्डुलिपि जयपुर के श्री दिगम्बर जैन तेरहपंथी मन्दिर में तथा दूसरी देहली के दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर में। दोनों ही चित्रकला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं जो रंग, वस्त्र, पहिनाव, नाक-नक्शा आदि की दृष्टि से सजीवता लिये हुए हैं।

सचित्र आदिपुराण (जयपुर) की पाण्डुलिपि में 344 पत्र हैं लेकिन इनमें पत्र संख्या 10, 15, 102, 103, 132 व 133 नहीं होने से वर्तमान में इसमें 338 पत्र ही रह गये हैं। यह सम्वत् 1597 फाल्गुन सुदि 13 में लिखी हुई पाण्डुलिपि है जिसकी प्रतिलिपि हरिनाथ कायस्थ ने की थी तथा चौधरी राइमल्ल ने उसकी प्रतिलिपि करवाई थी। इसमें चित्रों की संख्या 558 है जो सभी कला, रंग, शैली तथा कलम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इस पाण्डुलिपि के चित्रों की एक विशेषता यह है कि इनमें से कुछ चित्र तो पाण्डुलिपि के आकार के हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि लाल है किन्तु पीला, चमेली एवं हरे रंग का भी प्रयोग हुआ है। प्रसिद्ध कला-विशेषज्ञ डॉ० मोतीचन्द्र के अनुसार चित्रों में अंकित मानवाकृति पश्चिम-भारतीय चित्रकला से मिलती-जुलती है। आकृतियों का अलंकरण अत्यधिक कलापूर्ण एवं सजीव है।

### वेशभूषा

पुरुषों व स्त्रियों की वेशभूषा सीधी-सादी है। स्त्रियाँ चोली, साड़ी एवं चद्दर पहने हैं। किसी-किसी चित्र में साड़ियाँ इतनी लम्बी हैं कि पैरों में पहिने हुए गहने भी दिखाई नहीं देते। उनके कानों में बालियाँ, हाथों में चूड़ियाँ, भुजाओं में बाजूबन्द हैं। पैरों में कड़े एवं चाँदी की साट हैं। माथे पर सुहाग का प्रतीक बोरला बंधा हुआ है। पुरुषों की वेशभूषा में ग्वालियरी पगड़ी, सांगानेरी घोती, रंगीन दुपट्टा है। पाण्डुलिपि के प्रमुख चित्रों का परिचय निम्न प्रकार है—

#### 1. भरत मंत्री के पास पुष्पदंत का आगमन—

पत्र संख्या 4 पर, आकार 9"×4.2"

इस चित्र में महाकवि पुष्पदंत महामंत्री भरत के पास आया है तथा भरत द्वारा महापुराण लिखने की प्रार्थना पर कवि द्वारा विचार किया जा रहा है।



2. मरुदेव्या शृंगारकरणं (मरुदेवी शृंगार करती हुई) -

पत्र संख्या 17 पर, आकार 2.3"×2"

रानी मरुदेवी रंगीन साड़ी पहने हुए है। कानों में भुमके, हाथों में कड़े एवं चूड़ियाँ हैं। बायें हाथ में शीशा लिये हुए अपना मुख देख रही है। माथे पर बोरला बंधा हुआ है।

3. आदिनाथ का विवाह -

पत्र संख्या 35 पर, आकार 8.5"×2"

आदिनाथ स्वामी का विवाह अग्नि की साक्षी से हो रहा है। राजपुरोहित मंत्रोच्चारण कर रहा है। एक ओर नृत्य मंडली प्रतीक्षारत है तो दूसरी ओर वधू के माता-पिता बैठे हुए हैं।

4. आदिनाथ पुत्रीपढावणं - (आदिनाथ अपनी पुत्रियों को पढ़ाते हुए) -

पत्र संख्या 47 पर, आकार 3.5"×2.3"

आदिनाथ स्वयं चौकी पर बैठे हुए हैं। उनके सामने दोनों ओर एक-एक पुत्री बैठी हुई है। उनके हाथ में पट्टी है। उनका पूरा ध्यान अपने पढ़ने की ओर है। स्वयं आदिनाथ अंगरखी पहिने हुए हैं। कमर में दुपट्टा बांधे हुए हैं। दुपट्टा रंगीन है। मस्तक पर राजमुकुट एवं कानों में गोल एवं लम्बे कुंडल हैं। हाथों में भी तीन-तीन कड़े पहिने हुए हैं। चौकी में वृषभ का चिह्न बना हुआ है। पास ही में पुस्तक रखने की तिपायी है जिस पर ग्रंथ रखा हुआ है।

5. आदिनाथ राज्यस्थापनं (आदिनाथ का राज्याभिषेक) -

पत्र संख्या 49 पर, आकार 8.5"×2.2"

प्रस्तुत चित्र बहुत सुन्दर एवं आकर्षक है। चौकी पर आदिनाथ बैठे हुए हैं जिस पर बेल-बूटे बने हैं। आदिनाथ की वेशभूषा में कोई अन्तर नहीं है। उनके हाथ में पुष्प है तथा दूसरे हाथ से वे कुछ संकेत कर रहे हैं उनके सामने एक राजपुरुष एवं चार सौभाग्यवती स्त्रियाँ खड़ी हैं जो अभिषेक के पश्चात् उनका शृंगार करना चाहती हैं। चारों स्त्रियाँ विभिन्न मुद्रा में दिखाई दे रही हैं। सामने राजपुरुष तिलक करने की मुद्रा में खड़ा है। उनके दूसरी ओर छह राजपुरुष खड़े हैं। पहला राजा को पानी पिला रहा है। दूसरा और तीसरा हाथ में रजत कलश लिये हुए है। शेष तीन अभिषेक की दूसरी क्रिया के लिए तैयार खड़े हैं। वे घोती पहिने हुए हैं, गले में दुपट्टा है, माथे पर पगड़ी है पर बदन वस्त्ररहित है।

6. प्रस्तुत पाण्डुलिपि में प्रयाण करती हुई तथा युद्ध करती हुई सेना के अनेक चित्र हैं। भरत-बाहुबली युद्ध के पूरे पृष्ठ के दो चित्र हैं (पृष्ठ 172-173)

दिग्विजय के लिए जाती हुई भरत की सेना के कितने ही चित्र हैं। कोई चित्र पर्वत के समीप सेना के पड़ाव का है, किसी चित्र में सेना को गंगा पार करती हुई दिखाया गया है। सभी चित्रकला की दृष्टि से ही नहीं अन्य दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण हैं। सैनिक घोड़ों पर सवार हैं, हाथियों पर आरूढ़ हैं, कुछ घोड़ागाड़ियों में बैठे हैं तथा कुछ पैदल भी प्रयाण कर रहे हैं, उनके एक हाथ में ढाल व एक हाथ में तलवार है। यह प्रयाण रात्रि में हो रहा है, आकाश में पूर्ण चन्द्रमा चमक रहा है।

आदिनाथ पुराण में इतने अधिक चित्र हैं कि उनके द्वारा पुराण का पूरा कथानक समझ में आ जाता है। किसी-किसी पत्र पर तो तीन-तीन चित्र हैं लेकिन अधिकांश पत्रों के दोनों ओर चित्र अंकित हैं। प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर तीर्थंकर प्रतिमा का चित्र अंकित है। चित्रों के मुख्य आकर्षण आदिनाथ, बाहुबली एवं भरत चक्रवर्ती हैं। पुराण की छोटी से छोटी घटना को चित्रांकित किया गया है। इसप्रकार आदिपुराण की प्रस्तुत पाण्डुलिपि चित्रकला की दृष्टि से एक असाधारण पाण्डुलिपि है जिसका जितना अधिक एवं सूक्ष्म अध्ययन किया जावेगा, कला एवं संस्कृति के उतने ही नये आयाम उजागर किये जा सकेंगे।



सा विज्जा जा सयर वि रिययइ, सं रज्जु जम्मि बुहयणु जियइ ।  
ते बुह जे बुहहं ए मच्छरिय, ते मित्त ए जे विहरंतरिय ॥

अर्थ — विद्या वही है जो सब कुछ जान लेती है, राज्य वही है जिसमें विद्वान् जीवित रहते हैं। पण्डित वे ही हैं जो पण्डितों से ईर्ष्या नहीं करते, मित्र वे ही हैं जो संकट में दूर नहीं होते।

— महापुराण : 19.3.6-7

# महाकवि पुष्पदंत की रचनाओं की राजस्थान में लोकप्रियता

— पं० प्रनूपचन्द न्यायतीर्थ



राजस्थान की भूमि जिस प्रकार रणबांकुरे शूरवीरों की जननी रही है उसी प्रकार साहित्य, संस्कृति एवं कला की भी प्रसूता मानी जाती है। एक ओर यहाँ के वीरों ने रणभूमि में प्राण निछावर कर अपनी संस्कृति, देश और राष्ट्र की आन-बान की रक्षा की है तो दूसरी ओर यहाँ के प्रबुद्ध मनीषियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी भाषा में अपार साहित्य रच कर उसकी सुरक्षा में पूर्ण योग दिया है। यही कारण है कि हाथ से ग्रंथ लिखने के उस युग में भी पाण्डुलिपियों की कमी नहीं रही। विगत दो हजार वर्षों से शास्त्र लिखने और लिखाने में जैन साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है और इसी कारण आज भी देश के विभिन्न प्रदेशों में अनेक शास्त्र-भण्डार हैं और उनमें लाखों पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

जैनाचार्यों द्वारा किये गये दान के चार भेदों में ज्ञानदान (शास्त्रदान) भी एक भेद है। दान की यह अक्षुण्णधारा अब तक अविरलरूप से बहती चली आ रही है। जितना पुण्य मंदिर बनवाने, मूर्ति बनाकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने में बतलाया गया है उससे अधिक शास्त्र लिखवाकर विराजमान करवाने में माना गया है।

हमारे यहाँ देव-शास्त्र-गुरु की नित्य पूजा की जाती है जिसमें तीनों का समान स्थान है। शास्त्र को पूर्ण सम्मान के साथ रखा जाता है। सदैव से जैनों में स्वाध्याय की परिपाटी

होने के कारण मंदिरों में शास्त्र भण्डार बनाये गये और उनमें ग्रंथ लिखवा कर रखवाये गये। आज भी भगवान् के दर्शन के पश्चात् मंदिर में बैठकर शास्त्र-स्वाध्याय की परिपाटी प्रचलित है और उसी से जैनवाङ्मय सुरक्षित है।

वैसे तो जैन साधु एवं श्रावक विद्वानों ने सभी भाषाओं में साहित्य निर्माण किया है किन्तु प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी उनके साहित्य-निर्माण की प्रमुख भाषाएँ रही हैं। राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अपभ्रंश साहित्य को सुरक्षित रखने में मानी जानी चाहिये क्योंकि अपभ्रंश की 80 प्रतिशत पाण्डुलिपियाँ तो राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में ही मिलती हैं। अकेले आमेर शास्त्र भण्डार में जिसे अब श्रीमहावीरजी स्थानांतरित कर दिया गया है, अपभ्रंश की 60 से अधिक पाण्डुलिपियाँ हैं जिनका प्रशस्तिसंग्रह में उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ पाण्डुलिपियाँ तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अपभ्रंश के कवियों में महाकवि पुष्पदंत की रचनाओं को राजस्थान में सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त है। श्रीमहावीरजी क्षेत्र द्वारा प्रकाशित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ-सूची के 5 भागों, प्रशस्तिसंग्रह तथा नागौर के ग्रंथ भंडार की सूची के अध्ययन से पता चलता है कि अकेले पुष्पदंत की रचनाओं की 75 से भी अधिक पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के ग्रंथ भंडारों में संगृहीत हैं। उनमें अधिकांश पाण्डुलिपियाँ सम्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आमेर शास्त्र भंडार में संगृहीत उत्तरपुराण की संवत् 1391 की पाण्डुलिपि सबसे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। 15वीं, 16वीं, 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में लिपिबद्ध पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में विपुल संख्या में सुरक्षित हैं।

महाकवि पुष्पदंत की अब तक तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें उनसे हृदय के सम्पूर्ण भावों को उण्डेल कर रख दिया है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की दृष्टि से तीनों ही रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य-जगत् को उनकी अद्वितीय भेंट हैं। इन कृतियों में महापुराण एक महाकाव्य है जबकि 'गायकुमारचरित' एवं 'जसहरचरित' खण्ड-काव्य हैं। महापुराण कहीं-कहीं आदिपुराण एवं उत्तरपुराण के नाम से अलग-अलग भी मिलता है।

राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में यद्यपि पुष्पदंत की कृतियों की विपुल पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं लेकिन प्रस्तुत लेख में हम उन्हीं पाण्डुलिपियों का परिचय दे रहे हैं जो प्राचीन, शुद्ध एवं सम्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

**महापुराण** — इसे 'त्रैसठशलाकामहापुरुष' वर्णन भी कहते हैं। इसके आदिपुराण तथा उत्तरपुराण दो खण्ड हैं। पहिले खंड में ऋषभदेव का पूरा वर्णन तथा उत्तरपुराण में शेष 23 तीर्थंकरों का वर्णन है। महापुराण विशालकाय उत्तम ग्रंथ है जिसकी प्रतियाँ विभिन्न भंडारों में उपलब्ध हैं —

1. भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, नागौर

1. पत्र संख्या 155 । ले. काल सम्वत् 1493 । ग्रंथ संख्या 1000 ।
2. पत्र संख्या 253 । ले. काल सम्वत् 1585 । ग्रंथ संख्या 1451 ।
3. पत्र संख्या 101 । अपूर्ण ग्रंथ संख्या 1351 ।

2. मंदिर पाटोदी, जयपुर

पत्र संख्या 514 । वे. सं. 101 ।

3. भट्टारकीय भंडार, जैन मंदिर, अजमेर

1. पत्र संख्या 357 । वे. सं. 437 ।
2. पत्र संख्या 649 । वे. सं. 56 ।

4. तेरहपंथी मन्दिर, बीसा

1. पत्र संख्या 11 । वे. सं 20 । प्राचीन एवं जीर्ण ।

5. बीसपंथी मन्दिर, बीसा

1. पत्र संख्या 315 । वे. सं. 26 ।

6. संभवनाथ मन्दिर, उदयपुर

1. पत्र संख्या 138 । वे. सं. 26.4 ।

**आदिपुराण** — इसकी प्रतियाँ निम्न भंडारों में उपलब्ध हैं —

1. तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर

1. पत्र संख्या 382 । ले. काल सम्वत् 1477, वैशाख बुदि 2 । वे. सं. 91 ।
2. पत्र संख्या 252 । ले. काल सम्वत् 1526, आषाढ बुदि 13 । वे. सं. 13 ।
3. पत्र संख्या 143 । ले. काल सम्वत् 1537 । वे. सं. 85 । तक्षकगढ़ (टोड़ा) के पार्श्वनाथ मंदिर में प्रतिलिपि हुई ।
4. पत्र संख्या 344 । ले. काल सम्वत् 1597 । वे. सं. 89 । विशेष—यह सचित्र प्रति है जिसमें 300 से अधिक चित्र हैं ।
5. पत्र संख्या 208 । ले. काल सम्वत् 1609 । वे. सं. 90 ।
6. पत्र संख्या 177 । ले. काल सम्वत् 1648 । वे. सं. 87 ।
7. पत्र संख्या 295 । ले. काल सम्वत् 1653 । वे. सं. 88 ।

8. पत्र संख्या 325 । ले. काल सम्वत् 1630, भादवा सुदि 10 । वे. सं. 53 ।  
बाबा दुलीचंद मंडार, जयपुर ।
2. पार्वनाथ मंदिर, जयपुर
  1. पत्र संख्या 295 । ले. काल सम्वत् 1719 । वे. सं. 293 ।
3. भट्टा० जैन मन्दिर, अजमेर
  1. पत्र संख्या 234 । ले. काल सम्वत् 1631 । वे. सं. 131 ।
4. मंदिर ठोलियान, जयपुर
  1. पत्र संख्या 276 । ले. काल सम्वत् 1543, आसोज सुदि 9 ।

**उत्तरपुराण** — इसकी भी प्राचीन प्रतियाँ राजस्थान के निम्न मंडारों में सुरक्षित हैं —

1. तेरहपंथी मन्दिर, दोसा
  1. पत्र संख्या 325 । ले. काल सम्वत् 1538, कार्तिक सुदि 13 । वे. सं. 112 ।
2. तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर
  1. पत्र संख्या 493 । ले. काल सम्वत् 1641 । वे. संख्या 157 ।
  2. पत्र संख्या 423 । ले. काल सम्वत् 1615 । वे. संख्या 1379 ।
3. मन्दिर बधीचंदजी दीवान, जयपुर
  1. पत्र संख्या 324-838 । ले. काल सम्वत् 1557 । वे. संख्या 117 ।
4. भट्टारकीय ग्रंथ भंडार, नागौर
  1. पत्र संख्या 263 । ले. काल सम्वत् 1482 । ग्रंथ संख्या 1041 ।
  2. पत्र संख्या 31 । ले. काल सम्वत् 1658, कार्तिक सुदि 15 । ग्रंथ संख्या 1161 ।

**गायकुमार (नागकुमार) चरिउ** — नौ संधियों के इस सुन्दर काव्य में पंचमी के उपवास के फल का वर्णन है । यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है । इसकी प्रतियाँ निम्न स्थानों पर हैं —

1. मंदिर दीवान बधीचंदजी, जयपुर
  1. पत्र संख्या 19 । ले. काल सम्वत् 1517, वैशाख शुक्ला 5 । वे. संख्या 212 ।
  2. पत्र संख्या 60 । ले. काल सम्वत् 1528 । वे. संख्या 234 ।
  3. पत्र संख्या 49 । ले. काल सम्वत् 1558 । वे. संख्या 866 ।
  4. पत्र संख्या 69 । ले. काल सम्वत् 1554, भाद्रपद शुक्ला 3 । वे. संख्या 867 ।

2. **तेरहपंथी मंदिर, जयपुर**

1. पत्र संख्या 55 । ले. काल सम्वत् 1519 । वे. संख्या 868 ।
2. पत्र संख्या 71 । ले. काल सम्वत् 1603 । वे. संख्या 865 ।

3. **दि. जैन मन्दिर दीवानजी, कामा**

1. पत्र संख्या 96 । ले. काल सम्वत् 1564 ।
2. पत्र संख्या 82 । ले. काल सम्वत् 1625 ।

4. **भट्टारकीय भण्डार, नागौर**

1. पत्र संख्या 70 । ले. काल सम्वत् 1639, फाल्गुन सुदि 13 । ग्रंथ संख्या 1073 ।
2. पत्र संख्या 67 । ले. काल सम्वत् 1538 मंगसर सुदि 5 । ग्रंथ संख्या 2676 ।

**जसहरचरित (यशोधर चरित्र)** - यह एक सुन्दर खण्ड-काव्य है जिसमें पुण्यपुरुष यशोधर का चरित्रवर्णन है। यह कथानक बहुत लोकप्रिय रहा है। निम्न भंडारों में इसकी प्रतियाँ देखी जा सकती हैं। इनमें कितनी ही सचित्र प्रतियाँ भी हैं -

1. **दि. जैन मन्दिर पाटोदी, जयपुर**

1. पत्र संख्या 82 । ले. काल सम्वत् 1407 । वे. संख्या 25 ।

2. **तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर**

1. पत्र संख्या 66 । ले. काल सम्वत् 1539 । वे. संख्या 1439 ।
2. पत्र संख्या 170 । ले. काल सम्वत् 1437 ।
3. पत्र संख्या 63 ।
4. पत्र संख्या 83 ।
5. पत्र संख्या 171 । ले. काल सम्वत् 1913 ।

3. **भट्टारकीय मन्दिर, अजमेर**

1. पत्र संख्या 29 । ले. काल सम्वत् 1578 । वे. संख्या 970 ।

4. **दीवानजी का मन्दिर, कामा**

1. पत्र संख्या 61 । वे. संख्या 271 ।

5. **छोटे दीवानजी का मन्दिर, जयपुर**

1. पत्र संख्या 89 । ले. काल सम्वत् 1672 । वे. संख्या 287 ।
2. पत्र संख्या 63 । ले. काल सम्वत् 1897 । वे. संख्या 286 ।
3. पत्र संख्या 60-68 । ले. काल सम्वत् 1630 ।

## 6. जैन मन्दिर दबलाना, बूंदी

1. पत्र संख्या 63 । वे. संख्या 5 ।

## 7. भट्टारकीय भंडार, नागौर

1. पत्र संख्या 57 । ले. काल सम्वत् 1694 ।

2. पत्र संख्या 68 । ले. काल सम्वत् 1521 ।

3. पत्र संख्या 59 । ले. काल सम्वत् 1574 ।

4. पत्र संख्या 74 । ले. काल सम्वत् 1487 ।

5. पत्र संख्या 59 । ले. काल सम्वत् 1621 ।

6. पत्र संख्या 80 । ले. काल सम्वत् 1589 ।

7. पत्र संख्या 71 । ले. काल सम्वत् 1651 ।

8. पत्र संख्या 74 । ग्रंथ संख्या 1401 ।

हयतिमिरणियरु वरकरणिहाणु,

एण सुहाइ उल्लूहो उइउ भाणु ।

अर्थ - उल्लू को अंधकारसमूह का नाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ किरणों का निधान ऐसा उगता हुआ सूर्य अच्छा नहीं लगता ।

- महापुराण 1.8.5



## आणंदा

— श्री महानंदिवेद



[जैसा कि हमने जैनविद्या के पूर्व अंक में सूचित किया था पत्रिका के प्रत्येक अंक में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं की अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण रचनाओं में से एक रचना सानुवाद प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। गत अंक में प्रकाशित 'चूनड़िया' शीर्षक लगभग 800 वर्ष प्राचीन रचना हमारे इस संकल्प की पूर्ति हेतु प्रारम्भिक कड़ी थी।<sup>1</sup> हमें प्रसन्नता है कि हमारे इस प्रयास का पाठकों ने सोत्साह स्वागत किया। उससे उत्साहित होकर इस अंक में अपभ्रंश भाषा की ही महानंदिकृत 'आनन्दतिलक' नामक एक अन्य रचना प्रकाशित कर रहे हैं।

रचना अध्यात्म से परिपूर्ण है और कम से कम छह सौ वर्ष से अधिक की प्राचीन है। इसके बहुत से दोहों की तुलना प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि कबीर के दोहों से की जा सकती है।

रचना का सम्पादन एवं अनुवाद अपभ्रंश भाषा एवं जैनदर्शन के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान् डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच ने किया है। उन्होंने संस्थान की दो प्रतियों एवं अभय जैन ग्रन्थमाला, बीकानेर से प्रकाशित 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ' में मुद्रित प्रतियों का आधार लेकर रचना का पाठ तैयार किया है। पाठक संस्थान की प्रतियों के मूल पाठ से परिचित हो सकें एतदर्थ दोनों प्रतियों के पाठ-भेद संस्थान में पं० भँवरलाल पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, सा० शास्त्री से तैयार कराये जाकर इसके साथ जोड़ दिये गये हैं।

संस्थान की एक प्रति वि. सं. 1539 के एक गुटके में तथा दूसरी शास्त्राकार है जो गुटके से पर्याप्त पश्चात् की लिपीकृत ज्ञात होती है। दोनों प्रतियों में मुख्य भेद यह है कि गुटके में 'न' और 'ण' का प्रयोग मिलता है तथा शब्दों का उकारान्त रूप प्रायः नहीं है जो कि अपभ्रंश भाषा की निजी विशेषता है किन्तु नवीन प्रति में ये दोनों विशेषताएं सुरक्षित हैं जिससे ज्ञात होता है कि नवीन प्रति गुटके से भी प्राचीन किसी प्रति की प्रतिलिपि है।

हमारे इस प्रयास के संबंध में पाठकों के सुझावों का सदा ही स्वागत है।

प्रधान सम्पादक]

---

1. रचना के प्रकाशन के पश्चात् श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी ने हमें सूचित किया है कि यह रचना 'अनेकान्त', श्रावण वि. सं. 1999 वर्ष 5 अंक 6-7 में पं० दीपचंद जैन पाण्ड्या के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुकी थी। इस सूचना के लिए हम उनके आभारी हैं।



# भूमिका

— डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री



प्रस्तुत कृति अपभ्रंश की गीतियों में एक श्रेष्ठ रचना है। इसका मूल स्वर रहस्यवादी है। इसमें आत्मा और परमात्मा के भेद तथा रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। प्रसंगतः बाह्य क्रिया-काण्ड का निषेध, चित्त-शुद्धि एवं भाव-शुद्धि तथा गुरु की महत्ता, सहज समाधि का निरूपण और आत्म-स्वभाव में अपने उपयोग को स्थिर करने का वर्णन किया गया है। रचनाकार ने सामान्यतः पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किए बिना सीधे सरल शब्दों में धार्मिक व आध्यात्मिक साधना का निर्देश किया है। अतः रचना साम्प्रदायिक भेद-भावना से रहित प्रत्येक व्यक्ति के आत्म-कल्याण के लिए प्रेरणास्पद है।

43 पद्यों की इस रचना का नाम “आरांदा” है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह रचना आनन्द का स्रोत है। इसका भाव स्पष्ट रूप से समझ में आते ही आनन्द-रस की धारा बहने लगती है। इस रचना की विषय-वस्तु आध्यात्मिक है। प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्ददेव से लेकर छठी शताब्दी के योगीन्द्रदेव, देवसेन, श्रुतसागर और दसवीं शताब्दी के मुनि रामसिंह के “पाहुडदोहा” में वर्णित एक दीर्घ परम्परा रचनाकार के समय तक चली आ रही थी। कवि ने उसी रहस्यवादी परम्परा में योगी की आत्म-साधना का वर्णन किया है। रचना लघु होने पर भी सारगर्भित है।

रचना में आगत बंध (बन्ध), कम्म (कर्म), केवलराणु (केवलज्ञान), मुणिवर (मुनिवर), रिण्वाणु (निर्वाण) और कम्मपडल (कर्मपटल) जैसे कुछ शब्दों के प्रयोग से यह पता चल जाता है कि कवि जैनधर्मावलम्बी है। जैनधर्म व जैनदर्शन का उसका गहन अध्ययन है। किन्तु उसके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। नाम भी नया ही है। भाषा से यह पता लगता है कि रचनाकार भारत के पश्चिम-उत्तरप्रदेश दिल्ली-हरियाणा के निकटवर्ती क्षेत्र का रहा होगा। क्योंकि भाषा-रचना खड़ी बोली के अधिक निकट है और आचार्य हेमचन्द्र की भाषा के अनन्तर ही रची गई प्रतीत होती है। अतः अनुमानतः रचना-काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जान पड़ता है। डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल ने इसका रचना-काल बारहवीं शताब्दी और डॉ० हरिशंकर शर्मा "हरीश" ने तेरहवीं शताब्दी सम्भावित की है। किन्तु उनकी इस सम्भावना का सम्बन्ध प्राचीन राजस्थानी से सम्बद्ध है, अतः यथार्थता से परे है। किन्तु रचना के सम्बन्ध में उनका यह कथन रेखांकित करने योग्य है— "भाषा की सरलता, रचना की गीतिमयता, लोकभाषा-मूलकता, शब्द-चयन तथा प्रासादिकता द्रष्टव्य है। रचना में पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी है। कवि ने निर्वाण की प्राप्ति करानेवाले महानन्द का निवास-स्थान कितने मार्मिक कथन द्वारा सम्पन्न किया है।"

यथार्थ में यह एक ललित रचना है। इसका लालित्य पदों तक ही सीमित नहीं है, किन्तु भाषा के साथ ही भावों में भी अभिरामता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए—

भीतर भरियउ पाउमलु, मूढा करहि सणाणु ।

जे मल लागा चित्त मंहि, ते किम जाय सणाणु ॥

इस रचना की निम्नतम सीमा बारहवीं शताब्दी और अधिकतम सीमा पन्द्रहवीं शताब्दी निश्चित की जा सकती है। इसकी भाषा बारहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं है। इस पर "पाहुडदोहा" जो कि अपभ्रंश की दसवीं शताब्दी की रचना है, उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी के पाण्डुलिपि सर्वेक्षण-विभाग में वेष्टन संख्या 203 में जिस गुटके में पाना सं० 44 से 46 तक यह लिखी हुई मिलती है, उस गुटके का लेखन-काल वि० सं० 1539 है। अतः यह निश्चित है कि रचना इसके पूर्व कभी लिखी गई थी।

जहाँ तक रचना के नाम का सम्बन्ध है, इसी गुटके के अन्त में "इति आनन्दतिलकु समाप्त" उल्लेख किया गया है। स्वयं कवि ने कहा है—

हिडोला छंदि गाइयउ, आणंदतिलकु जु गाउ ।

हिडोला छन्द में यह गाया गया है और आनन्दतिलक इसका नाम है। इसका अपर नाम "आणंदा" भी है। "आणंदा" अधिक प्रचलित नाम प्रतीत होता है। एक तो लोकधुन बतलाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, दूसरे, प्रत्येक दोहे के पश्चात् हिडोला की भाँति एक आवृत्ति पुनः दुहराने के लिए "आणंदा रे" शब्दों का

प्रयोग किया है। तीसरे, रचना आनन्द से भरपूर है। अतः “आणंदा” नाम सार्थक है। “आणंदा” अपभ्रंश शब्द है और आनन्द या आनन्दतिलक संस्कृत नाम है।

प्रस्तुत रचना का सम्पादन तीन प्रतियों के आधार पर किया गया है। प्रथम प्रति उक्त गुटका है जिसे “क” प्रति कहा गया है। दूसरी प्रति भी उक्त संस्थान में स्थित वेण्टन संख्या 86 में लिपिबद्ध शास्त्राकार रचना है, जिसके अन्त में लिखा है— इति आणंदा समाप्ता। इस प्रति का अन्तिम दोहा अपूर्ण है। इस प्रति को ‘ख’ प्रति कहा गया है। दोनों ही प्रतियों में छन्द संख्या 25 के पश्चात् 27 लिखी हुई मिलती है। अतः कुल छन्द 43 ही हैं।

तीसरी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की प्रकाशित प्रति है जिसका मूल पाठ बिना किसी सम्पादन के डॉ० हरीश ने “आणंदा” के नाम से ‘आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ’ के द्वितीय खण्ड पृ० 170-172 में प्रकाशित कराया था।

प्रतिलिपिकारों ने रचना को अनेक स्थलों पर बहुत ही अशुद्ध लिखा था। अतः भाषा, छन्द, अर्थ की दृष्टि से शुद्ध करने में कई दिन लग गये फिर भी अधिकतर पाठ ज्यों के त्यों मूल प्रतियों के दिये हैं। कोई पाठ किसी प्रति से दिया है और कुछ अंश दूसरी प्रति का मिला दिया है। इस प्रकार रचना को मूल रूप में प्रस्तुत करने का यह अध्यवसाय किया गया है।



## आणंदा

बिदाणंदु<sup>1</sup> साणंदु<sup>2</sup> जिणु,<sup>3</sup> सयलसरीरहं सोई<sup>4</sup> ।  
महाणंदि सो<sup>5</sup> पूजियइ, गगणि मंडलु<sup>6</sup> थिर होई<sup>7</sup> ॥  
आणंदा रे ! गगणि मंडलु थिर होई ॥

अप्यु रिणंजणु अप्यु सिउ,<sup>8</sup> अप्या परमाणंदु<sup>9</sup> ।  
मूढु कुदेवउण पूजियइ,<sup>10</sup> गुरु विणु भूलउ अंधु<sup>11</sup> ॥  
आणंदा रे ! गुरु विणु भूलउ अंधु ॥ 2 ॥

अटठसट्ठ<sup>12</sup> तीरथ परिभमइ,<sup>13</sup> मूढा मरइ भमंतु<sup>14</sup> ।  
अप्या<sup>15</sup> देउ ए<sup>16</sup> बंदहि,<sup>17</sup> घट मंहि देव अणंदु<sup>18</sup> ॥  
आणंदा रे ! घट मंहि देव अणंदु ॥ 3 ॥

भीतर भरियउ पाउमलु,<sup>19</sup> मूढा करहि सराणु<sup>20</sup> ।  
जे मल लागा चित्त मंहि,<sup>21</sup> ते किम जाय सराणु<sup>22</sup> ॥  
आणंदा रे ! ते किम जाय सराणु ॥ 4 ॥

आणु<sup>23</sup> सरोवरु अमिय जलु,<sup>24</sup> मुणिवरु करइ सराणु<sup>25</sup> ।  
अटठकम्ममलु धोवाहि,<sup>26</sup> रिणयडा पाहु रिणव्वाणु<sup>27</sup> ॥  
आणंदा रे ! रिणयडा पाहु रिणव्वाणु ॥ 5 ॥

वेणी-संगमि जिणु<sup>28</sup> मरहु, जलरिणिं अंप मरेहु<sup>29</sup> ।  
आणगिहि तणु जालि करि,<sup>30</sup> कम्मपडल खउ लेहु<sup>31</sup> ॥  
आणंदा रे ! कम्मपडल खउ लेहु ॥ 6 ॥

सत्थु पढंतउ मूढ जइ, पालइ जण विवहारु<sup>32</sup> ।  
काइ<sup>33</sup> अचेयण पूजियइ,<sup>34</sup> नाही मोक्खु<sup>35</sup> दुवार ॥  
आणंदा रे ! नाही मोक्खु दुवार ॥ 7 ॥

महानन्द कृत आनन्दा

## आनन्दतिलक

अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले योगी ! सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प को रोक कर अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप चिदानन्द चैतन्य भगवान् की पूजा की जाती है जो शुद्धात्मा भगवान् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है ॥1॥

अपनी शुद्ध आत्मा निरंजन है, शिव है, परमानन्द है किन्तु मूढ़, अज्ञानी गुरु के उपदेश से प्रतिबद्ध हुए बिना अज्ञान-अन्धकार में भूले रहते हैं और जो वास्तव में देव नहीं हैं, उनकी पूजा करते हैं। हे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! गुरु के बिना अन्धे हुए भूले रहते हैं ॥2॥

अज्ञानी अड़सठ तीर्थों की यात्रा करता है, इधर-उधर भटकता हुआ अपना जीवन समाप्त कर देता है किन्तु निजात्मा शुद्धात्मा भगवान् की वन्दना नहीं करता है। अपने ही घट में महान् आनन्दशाली देव हैं। हे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! अपने ही घट में महान् आनन्दशाली देव हैं ॥3॥

जिसके भीतर पापरूपी मल भरा हुआ है, ऐसे अज्ञानी के बाहर में स्नान करने से क्या लाभ है ? क्योंकि स्नान करने से चित्त में लगा हुआ मल किस प्रकार छूट सकता है ? हे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! स्नान करने से मन का मैल कैसे दूर हो सकता है ॥4॥

ध्यानरूपी सरोवर में अमृतरूपी जल भरा रहता है। मुनिवर उस अमृतजल से स्नान करते हैं जिससे उनके आठ कर्मरूपी मल धुल जाते हैं और वे शीघ्र ही निर्वाण (सच्चे सुख) को प्राप्त करते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वे शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥5॥

हे योगिन् ! त्रिवेणी संगम में मत मरो, समुद्र में कूद कर अपने प्राणों का नाश मत करो। ध्यानरूपी अग्नि में शरीर को प्रज्वलित कर कर्मरूपी पटलों का क्षय कर लो। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! कर्म-पटल का नाश कर लो ॥6॥

यदि अज्ञानी शास्त्र पढ़ता हुआ लोक-व्यवहार का पालन करता है और अचेतन मूर्ति की पूजा भी करता है तो उससे मुक्ति का द्वार नहीं मिल पाता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! इन बाह्य क्रियाओं से मुक्ति का द्वार नहीं मिलता ॥7॥

वउ-तउ-<sup>36</sup>संजमु सीलु<sup>37</sup> गुण, सहइ महव्वय<sup>38</sup>-भारु ।  
 एक ए<sup>39</sup> जाणइ परमकला,<sup>40</sup> भमियइ<sup>41</sup> बहु संसार ॥  
 आणंदा रे ! भमियइ बहु संसार ॥ 8 ॥

केई<sup>42</sup> केस लुचार्वाहि,<sup>43</sup> केई<sup>44</sup> सिर जटभारु ।  
 अण्पा बिदु ए भावार्हि, किम पार्वहि भवपारु<sup>45</sup> ॥  
 आणंदा रे ! किम पार्वहि भवपारु ॥ 9 ॥

तिण्णिकालु बाहिर वसार्हि,<sup>46</sup> सहर्हि परीसहं भारु<sup>47</sup> ।  
 वंसण्णायणहं बाहिरउ,<sup>48</sup> मारिसे ए जमु कालु<sup>49</sup> ॥  
 आणंदा रे ! मारिसे ए जमु कालु ॥ 10 ॥

पक्खि-मासि<sup>50</sup> भोयणु करार्हि,<sup>51</sup> पाण्णउ<sup>52</sup> गामु निरासु ।  
 अण्पा भायइ<sup>53</sup> जाणार्हि, तिह्णर्हि<sup>54</sup> जमपुरिवासु ॥  
 आणंदा रे ! तिह्णर्हि जमपुरिवासु ॥ 11 ॥

बाहिरि लिंग<sup>55</sup> धरेवि मुण्णि,<sup>56</sup> त्सइ<sup>57</sup> मूढ्णिणंभु<sup>58</sup> ।  
 अण्पा एकु ए भावार्हि, सिवपुरि णार्हि णिणंभु<sup>59</sup> ॥  
 आणंदा रे ! सिवपुरि णार्हि णिणंभु ॥ 12 ॥

जिरावरु पुज्जइं गुरु थुण्णइं, सत्थहं माणु करइं ।  
 अण्पा देव ए चित्तवइं, ते एणर जमपुरि जाइं<sup>60</sup> ॥  
 आणंदा रे ! ते एणर जमपुरि जाइं ॥ 13 ॥

जो एरु सिद्धहं आइयउ, अरि खियंत आयेर्हि ।  
 मोक्खु महापुरु णीयउउ, भवदुहु पाण्णि ए देर्हि<sup>61</sup> ॥  
 आणंदा रे ! भवदुहु पाण्णि ए देर्हि ॥ 14 ॥

जिणु असमत्थु<sup>62</sup> वि मुण्णि भण्णइ,<sup>63</sup> ता णिम्मलु न होइ<sup>64</sup> ।  
 मारगु तिह्णयण अक्खियउ,<sup>65</sup> अण्पा<sup>66</sup> करइ सु होइ<sup>67</sup> ॥  
 आणंदा रे ! अण्पा करइ सु होइ ॥ 15 ॥

जिम वंसांदरु काठ महं,<sup>68</sup> कुसुमहं<sup>69</sup> परिमलु<sup>70</sup> होइ<sup>71</sup> ।  
 तिम देहहं जीउ<sup>72</sup> वसइ,<sup>73</sup> विरलउ<sup>74</sup> बूभइ कोइ<sup>75</sup> ॥  
 आणंदा रे ! विरलउ बूभइ कोइ ॥ 16 ॥



यह भव्य जीव व्रत, तप, संयम, शील आदि गुणों का पालन करता है तथा महाव्रत के भार को भी सहता है किन्तु एक परम कला (सहज समाधि) से अनभिज्ञ होने से संसार में बहुत समय तक भ्रमण करता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वह संसार में बहुत घूमता है ॥8॥

कोई केश का लुंचन करते हैं, कोई सिर पर जटाओं का भार धारण करते हैं किन्तु अपनी शुद्धात्मा का ध्यान नहीं करते। फिर, वे इस संसार से कैसे पार हो सकते हैं ? अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वे संसार से कैसे पार हो सकते हैं ॥9॥

तीनों समय जो अपने स्वभाव से बाहर रहते हैं, केवल परीषह का भार सहन करते रहते हैं, वे दर्शन-ज्ञान से बाहर हैं। परभावों में रहनेवाले को कालरूपी यम मार डालेगा। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! उसे कालरूपी यम मारेगा ॥10॥

जो मुनि एक पक्ष (पन्द्रह दिन) में, एक माह में बिना किसी आशा के निरासक्त होकर हथेली पर भोजन का ग्रास (आहार) लेते हैं, आत्मा का जो ध्यान करते हैं, ऐसे आत्मज्ञानी को यमपुर का वास नहीं मिलता अर्थात् वे अमर होते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! आत्मज्ञानी को यमपुर का निवास नहीं मिलता ॥11॥

जो बाहर में मुनिर्लिंग धारण करके अमरहित (निश्चित) तुष्ट हो जाता है और अपनी शुद्धात्मा का ध्यान नहीं करता है तो निश्चित ही वह शिवपुर नहीं जाता। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वह निश्चित ही शिवपुर को नहीं जाता ॥12॥

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं, गुरु की स्तुति करते हैं, जिनवाणी (शास्त्र) का सम्मान करते हैं किन्तु आत्मदेव का चिन्तन नहीं करते वे यमपुर जाते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वे नरक-निगोद रूप यमपुर को जाते हैं ॥13॥

जो मनुष्य सिद्ध परमात्मा का ध्यान करते हैं वे ध्यान के बल से अष्ट कर्मों का क्षय कर देते हैं। उनके लिए मोक्ष-नगर निकट होता है। फिर कर्म उनको संसार का दुःख नहीं देते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! कर्म ऐसे प्राणी को भव-दुःख, पीड़ा नहीं देते ॥14॥

मुनि भी यही कहते हैं कि संसार का कुछ करने-घरने में जिनेन्द्र भगवान् असमर्थ हैं। उनके शुद्ध करने से हमारी आत्मा शुद्ध नहीं होती। तीनों लोकों के लिए यही मार्ग कहा गया है कि जो जैसा पुरुषार्थ करते हैं वैसा ही उनका होनहार होता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वैसा ही उनका होनहार होता है ॥15॥

जिस प्रकार लकड़ी (काष्ठ) में अग्नि व्याप्त रहती है, पुष्पों में सुगन्ध रहती है, उसी प्रकार देह में जीव बसता है - इस बात को कोई विरला व्यक्ति ही समझता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! कोई विरला व्यक्ति ही इस बात को समझता है ॥16॥

बंधविहृणउ देउ सिउ, रिणम्मलु मलहं विहीणु ।

कमलिणिवलु जलंबिदु जिम, एवि तसु पावु ए पुण्णु<sup>76</sup> ॥

आणंदा रे ! एवि तसु पावु ए पुण्णु ॥17॥

हरि-हर-बंधु वि सिव कही, मन-बुधि लखो न जाइ ।

मउभ सरीरहं सो वसइ, लीजहिं गुरुहं पसाइ<sup>77</sup> ॥

आणंदा रे ! लीजहिं गुरुहं पसाइ ॥18॥

फरस<sup>78</sup>-गंध-रस-बाहिरउ,<sup>79</sup> रूव विहृणउ<sup>80</sup> सोइ<sup>81</sup> ।

जीव सरीरहं भिन्नु<sup>82</sup> करि, सदगुरु जाणइ सोइ<sup>83</sup> ॥

आणंदा रे ! सदगुरु जाणइ सोइ ॥19॥

देउ सचेयणु<sup>84</sup> भाइयइ,<sup>85</sup> तं जिय<sup>86</sup> पर<sup>87</sup> विवहार<sup>88</sup> ।

एकु<sup>89</sup> समउ भाणे रहहिं,<sup>90</sup> धग-धग कम्म-पयालु<sup>91</sup> ॥

आणंदा रे ! धगधग कम्म-पयालु ॥20॥

जापु जपइ बहु तव तवइ,<sup>92</sup> तो वि<sup>93</sup> ए कम्म<sup>94</sup> हरोइ<sup>95</sup> ।

एकु<sup>96</sup> समउ अप्पा<sup>97</sup> मुणइ,<sup>98</sup> चउगइ<sup>99</sup> पाणि ए देइ<sup>100</sup> ॥

आणंदा रे ! चउगइ पाणि ए देइ ॥21॥

सो अप्पा<sup>101</sup> मुणि<sup>102</sup> जीव तुहुं,<sup>103</sup> अहंकारि<sup>104</sup> परिहार<sup>105</sup> ।

सहज समाधिहिं<sup>106</sup> जाणियइ,<sup>107</sup> जे<sup>108</sup> जिणसासण<sup>109</sup>-सार ॥

आणंदा रे ! जे जिणसासणसार ॥22॥

अप्पा<sup>110</sup> संजमु-सीलु<sup>111</sup> गुण,<sup>112</sup> अप्पा दंसण-साणु<sup>113</sup> ।

वउ<sup>114</sup>-तउ-संजमु<sup>115</sup>-देउ-गुरु, अप्पा पहु रिणव्वाणु<sup>116</sup> ॥

आणंदा रे ! अप्पा पहु रिणव्वाणु<sup>117</sup> ॥23॥

परमपपउ जो भाययइ,<sup>118</sup> सो साचउ<sup>119</sup> विवहार ।

समकित बोधह<sup>120</sup> बाहिरउ, कणु<sup>121</sup> विणु गहइ परार<sup>122</sup> ॥

आणंदा रे ! कणु विणु गहइ परार ॥24॥

माय-बप्प कुलु<sup>123</sup> जाति विणु, एउ तसु रोसु ए राउ<sup>124</sup> ।

सम्मकदिट्ठिहिं जाणियइ, सदगुरु करइ सुभाउ<sup>125</sup> ॥

आणंदा रे ! सदगुरु करइ सुभाउ ॥25॥

जो सभी प्रकार के बन्धनों से विहीन है, सभी मलों से रहित निर्मल है, वह देव शिव है। जिस प्रकार कमलिनी के पत्ते पर स्थित पानी की बूंद उससे सर्वथा भिन्न रहती है, उसी प्रकार शिव पाप-पुण्य से सर्वथा भिन्न है, वह इनसे अछूता रहता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! शिव (परमात्मा) के पाप-पुण्य नहीं होते ॥17॥

परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्म, शिव भी कहा गया है। उसे मन से, बुद्धि से देखा नहीं जा सकता। सम्पूर्ण शरीर में उसका वास है। गुरु के प्रसाद से उनके दर्शन होते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! गुरु के प्रसाद से परमात्मा के दर्शन होते हैं ॥18॥

परमात्मा रूप से विहीन अरूपी हैं। उनके रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं हैं। जो सद्गुरु हैं, वे भेदविज्ञान के बल से जीव और शरीर को भिन्न करके जानते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! सद्गुरु परमात्मा को जानते हैं ॥19॥

जो चैतन्य मूर्ति शुद्धात्मा (त्रैकालिक ध्रुव एक ज्ञायक भाव) का ध्यान करता है वह निश्चय से परमात्मा है। अन्य सभी व्यवहार है। जो एक समय के लिए भी अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में स्थिर रहता है, उसके कर्मरूपी पयाल धग-धग करके जल जाता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! आत्मध्यानी के कर्म पयाल की भाँति धग-धग करके जल जाते हैं ॥20॥

जाप जपने से, बहुत तप करने से भी कर्म का नाश नहीं होता। एक समय के लिए भी प्राणी अपनी आत्मा का अनुभव करता है तो कर्म प्राणी को चतुर्गति नहीं दे सकता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! ऐसे प्राणी को कर्म चतुर्गति में नहीं घुमा सकता ॥21॥

हे जीव ! अहंकार (मैं और मेरापना अर्थात् आत्मबुद्धि) छोड़ कर तू अपने आप का अनुभव कर। निर्विकल्प सहज समाधि में आत्मा का अनुभव होता है जो जिनशासन का सार है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! निज आत्मा का अनुभव ही जिनेन्द्र भगवान् के शासन का सार है ॥22॥

आत्मा संयम है, शील है, दर्शन-ज्ञान आदि गुरुओं से युक्त है। आत्मा ही व्रत, तप, संयम, देव, गुरु और मोक्ष-मार्ग है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! आत्मा ही मोक्ष-मार्ग है ॥23॥

परमात्मा का ध्यान करना ही सच्चा व्यवहार है। इसके सिवाय अन्य सम्यक्त्व तथा आत्मज्ञान से परे हैं, जिस प्रकार दाने के बिना छिलके का ग्रहण करना है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! दाने के बिना छिलके का ग्रहण करना है ॥24॥

सम्यक्दृष्टि (आत्मज्ञानी) यह जानता है कि मूल वस्तु का कोई जनक नहीं है। इसलिए न कोई माता-पिता है, न कुल और न जाति है। अतः इन पर उसकी राग-द्वेष की दृष्टि नहीं होती। सद्गुरु अपने स्वभाव का अनुसरण करता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! सद्गुरु अपने स्वभाव में रहता है ॥25॥

परमाणंद<sup>126</sup> - सरोवरहं,<sup>127</sup> जे मुणिए करइं पवेसु<sup>128</sup> ।  
 अमिय महारसु जइ पिबइ,<sup>129</sup> गुरु-सामिहि<sup>130</sup> उपदेसु ॥  
 आणंदा रे ! गुरु सामिहि उपदेसु ॥26॥

महि साधहि रमणिएहि रमहि, जे चक्काहिब होइ ।  
 गणवलेण जिणेव मुणिए, सिवपुरि गियंडा होइ<sup>131</sup> ॥  
 आणंदा रे ! सिवपुरि गियंडा होइ ॥27॥

सिक्खु<sup>132</sup> सुणइ<sup>133</sup> सदगुरु भणइ,<sup>134</sup> परमाणंद<sup>135</sup> सहाउ ।  
 परमजोति<sup>136</sup> तसु उल्हसइ, कीजइ गिम्मलु<sup>137</sup> भाउ ॥  
 आणंदा रे ! कीजइ गिम्मलु भाउ<sup>138</sup> ॥28॥

इंदिय-मणु वि छोहियउ,<sup>139</sup> चेयणु<sup>140</sup> कय<sup>141</sup> उपदेसु<sup>142</sup> ।  
 उदय करंतउ वारियउ,<sup>143</sup> सुणयउ जाणु ण देसु<sup>144</sup> ॥  
 आणंदा रे ! सुणयउ जाणु ण देसु<sup>145</sup> ॥29॥

गयकुंभत्थलि<sup>146</sup> जेम दिठ, केसरि करइ<sup>147</sup> पहार ।  
 परमसमाहि<sup>148</sup> ण भुल्लहि, रहियउ हुइ<sup>149</sup> गिरकार ॥  
 आणंदा रे ! रहियउ हुइ गिरकार<sup>150</sup> ॥30॥

पुब्बकिय<sup>151</sup> मल - गिणज्जुरइ, गय्या ण होणहं देइ ।  
 अण्णा पुणु मणु रंगियउ, केवलणाणु हवेइ<sup>152</sup> ॥  
 आणंदा रे ! केवलणाणु हवेइ ॥31॥

देव बजावहि बुबुहि, थुणइ जु बंभु-मुरारि ।  
 इंदु-फण्णिणु वि चक्कवइ, तेतिसु उरगहि वारु (रि)<sup>153</sup> ॥  
 आणंदा रे ! तेतिसु उरगहि वारु ॥32॥

केवलणाणु वि उपज्जइ, सदगुरु-वचन-पसाउ ।  
 जगु सचराचर सो मुणइ, रहइ जु सहजसुभाउ<sup>154</sup> ॥  
 आणंदा रे ! रहइ जु सहजसुभाउ ॥33॥

सदगुरु<sup>155</sup> तूठा पावयइ,<sup>156</sup> मुगति<sup>157</sup>-तिया-घर-वासु ।  
 सो गुरु गिणु-गिणु भाइया, जब लागि हिये उसासु<sup>158</sup> ॥  
 आणंदा रे ! जग लागि हिये उसासु ॥34॥

जो मुनि परम आनन्द के सरोवर में प्रवेश करके अमृत महारस का पान करते हैं वे जिनेन्द्र भगवान् तथा सद्गुरु के उपदेश का पालन करते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! ऐसे मुनि ही भगवान् तथा सद्गुरु का उपदेश पालन करते हैं ॥26॥

जो युद्ध में पृथ्वी को जीत कर रमणियों से रमण करते हैं वे चक्राधिप (चक्रवर्ती) नरेश होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के बल से कर्म-चक्र को जीतते हुए जो आत्मा का अनुभव करते हैं उनके शिवपुर निकट होता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! उनके शिवपुर (मोक्ष) निकट होता है ॥27॥

सद्गुरु कहते हैं, शिष्य सुनते हैं - अपनी आत्मा का स्वभाव परमानन्द है। शुद्ध-भाव से चिन्मय-ज्योति-स्वरूप वह परमज्योति प्रकाशित होती है। अतः अपने भाव निर्मल कर। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! अपने भाव शुद्ध कर ॥28॥

चेतन के लिए ही यह उपदेश दिया जाता है कि इन्द्रिय तथा मन में क्षोभ उत्पन्न होने पर उन पर नियन्त्रण रखना चाहिये, अन्य प्रदेश में यह उपदेश नहीं सुना जाता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! जीव-लोक को छोड़ कर अन्य किसी देश में यह उपदेश नहीं सुना जाता है ॥29॥

जैसे बलिष्ठ हाथी के कुम्भस्थल पर सिंह प्रहार करता है वैसे ज्ञानी मिथ्यात्व गज को परास्त कर परम-समाधि में लीन होता है। परम-समाधि को ज्ञानी नहीं भूलते हैं। उस समय वे निराकार होकर रहते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! ज्ञानी परम-समाधि में निराकार होकर रहते हैं ॥30॥

ज्ञानी के पूर्व में बंधे हुए मल (कर्म) भड़ जाते हैं और नये बँधते नहीं हैं। अपना उपयोग आत्मा में लगाने से केवलज्ञान होता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! अपने स्वरूप में लीन रहने से केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) होता है ॥31॥

देव दुंदुभि बजाते हैं, ब्रह्मा, कृष्ण स्तुति करते हैं। इन्द्र, फणीन्द्र, चक्रवर्ती तथा तेतीस प्रकार के उरगनाथ समाधि में लीन योगी पर बलि-बलि जाते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! समाधि में लीन योगी पर अन्य सब देवी-देवता न्यौछावर हो जाते हैं ॥32॥

सद्गुरु के वचन के प्रसाद से जो आत्मा का अनुभव करता है उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान में तीन लोक के तीनों कालों में होनेवाले चर-अचर पदार्थ व सम्पूर्ण जग प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित होता है। फिर, वह सहज स्वभाव सतत् रहता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! सहज स्वभाव सदा काल रहता है ॥33॥

“सद्गुरु” के सन्तुष्ट (अपने स्वरूप में स्थिर) होने पर मुक्ति-रमा का वास प्राप्त होता है। जब तक हृदय में सांस है तब तक प्रतिदिन ऐसे गुरु का ध्यान करना चाहिये। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! जब तक श्वासोच्छ्वास है तब तक ऐसे गुरु का ध्यान करो ॥34॥

गुरु जिरावर गुरु सिद्ध-सिउ, <sup>159</sup> गुरु रयरत्तय <sup>160</sup>-सार ।  
 सो दरिसावइ अण्य <sup>161</sup> - पर, भवजल पावइ <sup>162</sup> पार ॥  
 आणंदा रे ! भवजल पावइ पार ॥35॥

पाहण <sup>163</sup> पूजि <sup>164</sup> म सिर <sup>165</sup> धुणहु, <sup>166</sup> तीरथ काइ भमेउ <sup>167</sup> ।  
 देव सचेयणु सच्च गुरु, जो दरिसावइ भेउ <sup>168</sup> ॥  
 आणंदा रे ! जो दरिसावइ भेउ ॥36॥

सुखइ सुणावइ अणुभवइ, सो एरु सिवपुरि जाइ ।  
 कर्महरण भव-रिणद्वलण, भवियण हियइ समाइ <sup>169</sup> ॥  
 आणंदा रे ! भवियण हियइ समाइ ॥37॥

सुणतहं आणंदु उल्लसइ, मत्थये एणतिलगु ।  
 मुकुटमणि सिरि सोहयइ, साहु गुरु पालहु जोगु <sup>170</sup> ॥  
 आणंदा रे ! साहु गुरु पालहु जोगु ॥38॥

समरसभावे <sup>171</sup> रंगिया, अण्पा देखइ सोइ <sup>172</sup> ।  
 अण्पउ जाणइ अणुभवइ, <sup>173</sup> करइ <sup>174</sup> गिरालंब होइ <sup>175</sup> ॥  
 आणंदा रे ! करइ गिरालंब होइ ॥39॥

सुणतह हियडा करमरइ, मत्थये उपजइ सोगु ।  
 अणखु बढइ बहु हिय रे, मिच्छादिट्ठी जोगु <sup>176</sup> ॥  
 आणंदा रे ! मिच्छादिट्ठी जोगु ॥40॥

हिडोला छंदि गाइयउ, आणंदतिलकु जु एणउ ।  
 महाणंदि दिक्खालियउ, अब हउं सिवपुरि जाउ <sup>177</sup> ॥  
 आणंदा रे ! अब हउं सिवपुरि जाउ ॥41॥

बलि किज्जउ गुरु आपराइ, फेडिय मन-संवेहु ।  
 विणु तेलाहं विणु वाटियाहं, जिरा दरिसायउ भेहु <sup>178</sup> ॥  
 आणंदा रे ! जिरा दरिसायउ भेहु ॥42॥

सदगुरु-व्राणी जय हवउ, भराइ महाणंदिवेव ।  
 सिवपुरि जाये जाणियइ, करइ चिदानंदिसेव <sup>179</sup> ॥  
 आणंदा रे ! करइ चिदानंदिसेव ॥43॥

गुरु ही जिनेन्द्र भगवान् हैं, गुरु सिद्ध भगवान् हैं, गुरु शिव हैं और गुरु रत्नत्रय-सारस्वरूप हैं। वे ही अपने-पर के स्वरूप को दिखलानेवाले हैं जिससे संसाररूपी समुद्र से पार हो जाते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! उनके मार्गदर्शन से जीव संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं ॥35॥

पत्थर को पूज कर सिर मत धुनो, तीर्थों में घूमने से भी क्या ? चैतन्य चिन्मात्र ही सच्चा गुरु है जो आत्मा-परमात्मा के भेद को दर्शाता है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! अपना चैतन्य आत्मा ही आत्मा-परमात्मा का भेद दर्शानेवाला है ॥36॥

जो अपने शुद्धात्मा भगवान् को सुनता है, सुनाता है और उसका अनुभव करता है वही मनुष्य मुक्ति-पुरी में जाता है। जो कर्मों का हनन करना चाहते हैं, संसार का निर्दलन करना चाहते हैं उनके हृदय में ही यह बात समाती है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! भव्य जीवों को ही यह बात समझ में आती है ॥37॥

जिनके मस्तक पर ज्ञान का तिलक है, सिर पर अनुभूति का मुकुटमणि है और जो आरांदा को सुनते ही उल्लसित हो जाते हैं वे साधु गुरु ही योग को धारण करते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वे साधु गुरु ही आत्मध्यानी योगी होते हैं ॥38॥

जो समता भाव में लीन रहते हैं, अपने ज्ञान नेत्रों से आत्मा का दर्शन करते हैं, अपनी आत्मा का जो अनुभव करते हैं, वे ही निरालम्ब होते हैं। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! जो आत्मा का अनुभव करते हैं, वे ही आलम्बनरहित होते हैं ॥39॥

इसको सुनते ही जिसका हृदय कसमसाने लगता है, मस्तिष्क में शोक उत्पन्न हो जाता है, जिसके मन में रोष बढ़ जाता है वह मिथ्यादृष्टि है। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! वह मिथ्यादृष्टि है ॥40॥

मैं आनन्दतिलक नामवाले इस काव्य को हिण्डोला छन्द में गाता हूँ। महान् आनन्द का दर्शन मुझे कराया गया है इसलिए अब मैं शिवपुरी (मोक्ष) जाता हूँ। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! अब मैं शिवपुरी जाता हूँ ॥41॥

अपने मन के भ्रम-सन्देह का निवारण करके मैं अपने गुरु पर बलि-बलि जाता हूँ जिन्होंने बिना तेल (राग) और बिना बाती (साधन) के आत्मा तथा परमात्मा का भेद दर्शाया है, उन सद्गुरु पर न्यौछावर हूँ अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! जिन्होंने यह भेद दिखलाया है उनकी बलिहारी है ॥42॥

महान् आनन्द को दर्शानेवाले सद्गुरुदेव यह कहते हैं कि शिवपुरी (मोक्षमार्ग) में आये बिना और चिदानन्द चैतन्यदेव की सेवा किए बिना परमब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती - यह सद्गुरु-वाणी जयवन्त होवे। अरे आनन्द को प्राप्त करनेवाले ! चिदानन्द चैतन्य-देव की सेवा करो ॥43॥

## पाठभेद

1. (क) चिदानन्द (ख) चिदानन्दु
2. (क) सर्निद (ख) सोरांदु
3. (क) जिन
4. (क) सयलसरीरहं सोइ
5. (क) महानदि सौ
6. (क) गगन मंडल
7. (क) होइ
8. (क) अपु निरंजनु अपु सिव (ख) अपु गिरंजणु परम सिउ
9. (क) परमानंदु
10. (क) मुढू कुदेऊन पूजिए (ख) मूढ कुदेवरा पूजियइ
11. (क) भूलौ
12. (ख) अट्टसट्टि
13. (ख) परिभमई
14. (क) मरहि भवंत
15. (क) अपा
16. (क) न
17. (ख) अप्पविदु ए जाणहि
18. (क) घट्ट महि देउ अनंदु (ख) घट महि देव अरांतु
19. (क) पायमलु (ख) भित्तरि भरिउ पाउमलु
20. (क) मूढ करहि सनानु (ख) मूढा करहि सण्हाणु
21. (क) जो मलु लागौ चित्तमहिं (ख) जे मल लागं चित महि
22. (क) ते क्यो जाहि सनान (ख) किम जाय सण्हाणि
23. (क) ध्यानु (ख) भाण
24. (ख) जुलु
25. (क) मुनीयर करहि सनानु (ख) मुणिवरु करइ सण्हाणु
26. (क) आठ कम्ममल धोवहि (ख) अट्ट कम्ममल धोवहि
27. (क) नियरउ पहु निव्वाणु
28. (क) वैणी संगमु जिन
29. (क) जलनी भंप न देहु



30. (क) ध्यानु अगनि तनु जालिये
31. (क) कम्मं पटल ख्यौ लेंहुं (ख) कम्मपटल खउ लेहु
32. (क) सथु पढंतउ मूढ जौ, पालौ जौ व्यौहार  
(ख) सत्थु पढंतउ मूढ म जइ, पालई जण विवहार
33. (क) काइ (ख) काई
34. (क) पूजिए (ख) पूजियई
35. (क) मोष
36. (क) पौ तौ
37. (क) सील
38. (क) सहै महावय (ख) सहय महव्वय
39. (क) न
40. (ख) जाणई परमकुल
41. (क) भमिसी (ख) भमीयइ
42. (क) (ख) केई
43. (क) लुचावहि
44. (क) (ख) केइ
45. (क) अपा जे मन भावहि, किम पाव्हि भवपारु  
(ख) आप्पविदण जाणहि किम यावहि भचयारु
46. (क) तीनि काल बाहिरि वसै (ख) तिणि कालु बाहिर बसहि
47. (क) सहै परीसह भार
48. (क) दरसन न्यानह वाहिरै
49. (क) मारिस ए जम कालु (ख) मरिसै ए जमु कालु
50. (क) पाख मास (ख) पाखि मासि
51. (क) करै
52. (क) पाणी (ख) पण्ड
53. (क) अपा भायनि (ख) अप्पा भयाइ ए
54. (क) तिन होइ (ख) तिह एइ
55. (क) ल्यंग
56. (क) मुनि
57. (क) तुसइ (ख) तूसै
58. (क) गिणवंतु
59. (क) आपा एकु न भावहि, स्यौपुरि जाइ तुरंत  
(ख) अप्पा इक्क ए भयावहि, सिवपुरि जाइ गिणवंतु
60. (क) जिनवर पूजहि गुरु थुवहि, सथैहि भूनुं कराहि ।  
अपा देउ न भावहि, ते नर जमपुरि जाहि ॥  
(ख) गिरावरु पुज्जउ गुरु थुणहि, सत्थई माणु कराई ।  
अप्पा देव ए चितवहि, ते एण जमपुरि जाई ॥

61. (क) जिनवर सिधहं भाइयइ, रे जीव तुं भाएहि ।  
मोखु महापुरि नीयडौ, भवदुह पाणीं देह ॥  
(ख) जोणीर सिद्धहं साईयउ, अरि क्षियतं भाएहि ।  
मोखु महापुर एणियडउ, भवदुहु पाणिय देहि ॥
62. (क) असमथु
63. (क) भराहि
64. (क) निर्मलु न मलु होइ (ख) रण मल्लु न होई
65. (क) त्तिहुयणि अक्खिये
66. (क) आप्पा
67. (ख) होई
68. (ख) वइसाणर कड महि
69. (ख) कुसुमइ
70. (क) परमलु
71. (ख) होई
72. (क) जिउ
73. (ख) तिह देहमइ वसइ जिव
74. (ख) चिरला
75. (ख) कोई
76. (क) वंध विहूणौ देह सिऊ, नम्मलु मलह विहूण ।  
कम्मलिणदलु जिम वंदिजइ, ना तसु पाव नु पुंन ॥  
(ख) वंध विइणउ देह सिउ, रिणम्मलु मलुहं विहीणु ।  
कमलिणदलि जल जिम विदु जिमं, ए वि तसु पाव णु पुण ॥
77. (क) हरि हरि वंभ न तासु मुणि, मनवुधि लख्यौ न जाई ।  
मांहि सरीरहं परिठियं, लीजं गुरहं पसाइ ॥  
(ख) हरि हर वंभु वि सिव एही, मणु बुद्धि लक्खिउ ए जाई ।  
मध्य सरीरहे सो वसइ, लीजहिं गुरुहिं पसाई ॥
78. (क) फास
79. (क) वाहिरं (ख) रस गंध वाहिरऊ
80. (क) विहूणौ
81. (ख) सोई
82. (ख) विणु
83. (क) सडुगुरु जानइ कोइ (ख) सहगुरु जाणई सोई
84. (क) सचेयण
85. (क) भाइए (ख) भाइयई
86. (क) तिजिए
87. (ख) परि

88. (क) व्यौहार
89. (ख) एक
90. (क) समौ भान लीनु (ख) समई भाणा रहहि
91. (क) दग्ध कम्म पयारु (ख) धग धग कम्मपयालु
92. (क) जाप जपै बहुतै तवै (ख) तवई
93. (क) तउ रा
94. (क) (ख) कम्म
95. (ख) हणोई
96. (ख) एक
97. (क) अपा
98. (क) मूनिउ
99. (क) चो गै
100. (क) पान्यौ देइ (ख) पाण्णिउ देई
101. (ख) अप्पां
102. (क) मुनि
103. (क) तुहु
104. (क) अनहंकहि (ख) अणहंकरि
105. (क) प्रहारु
106. (क) समाद्धी
107. (क) जाणिए (ख) जाणियई
108. (क) जो
109. (ख) जिणसासणि
110. (ख) अप्प
111. (क) (ख) सील
112. (ख) गुण
113. (क) दर्शनु न्यानु
114. (क) वतु
115. (ख) संजम
116. (क) आप्पा पहु निर्वाणु (ख) ते पावहि णिवाणु
117. संख्या 22 का छंद (क) प्रति में संख्या 23 के छंद के पश्चात् है जिसके पाठ भेद ऊपर दिये जा चुके हैं।
118. (ख) भावई
119. (ख) साच्चउ
120. (ख) सम्मकु बोधइ
121. (ख) कणु
122. (ख) गहिउ पयालु

123. (क) माइ वापु कुलु (ख) कुल
124. (क) ना तिसु राउ न रोसु (ख) राउ तेसु रोसु रा रावं
125. (क) समकितदृष्टि जाणिए, सदगुरु के उपदेस  
(ख) सम्यक्दिट्ठि हि जाणियइ, सदगुरु करई सभाउ
126. यह छंद संख्या 27 (क) प्रति में नहीं है।
127. (ख) शरोवरहं
128. (ख) करइं पवेसु
129. (ख) पिवई
130. (ख) स्वामिहि
131. (क) मह सोधे खणि खहि, जे चक्कवइ व होइ।  
न्यानवलेन जीतेवि मुनि, स्योपुरु नियडौ सोइ ॥  
(ख) महि साधहि रमणिहि रमहि, रमहि जे चक्काहि हवेइ।  
राणवलेन जिणोव मुणि, सिवपुरि णियेडा होहि ॥28॥
132. (क) प्रति में निम्न दोहा यहाँ है जो (ख) और (ग) प्रति में संख्या 30 का छंद है।  
कुंमंस्थलि जो मदि द्रू, केसरि करै प्राहार।  
प्रेम राहि न भूलिए, रहिए निरहंकार
133. (ख) सिक्खु सुसिक्खु
134. (ख) भणइं
135. (ख) परमानंद
136. (ख) परमज्योति
137. (ख) णिमलु
138. (क) प्रति में यह छंद 29 छंद के पश्चात् है।
139. (क) इंदी मनहि वि छाहिए  
(ख) इंदिय मण विछोहियऊ
140. (ख) चेतणु
141. (क) करै (ख) करइ
142. (ख) प्रवेसु
143. (क) उदौ करंतै वारिए
144. (क) सूतै जाणहि देसु (ख) मुणउ जाण रा देउ
145. छंद 29 के पश्चात् (क) प्रति में निम्न छंद है जो (ख) और (ग) प्रतियों में 28 संख्या का छंद है—  
सिक्खु सुणौ सदगुरु भणौ, परमानंद सहाउ।  
परमजोति त्सु उलहसै, रहिए सहज सुभाइ ॥
146. (ख) गयकूभत्थलि
147. (ख) करई

148. परमसमाहि  
 149. दहियउ दुइ गिणक्खारु  
 150. (क) प्रति में यह छंद 27 एवं 28 के मध्य है जो टिप्पण 132 पर उद्धृत किया गया है ।  
 151. (क) प्रति में 30 और 31 के मध्य निम्न दोहा है  
 समरस भाव रंगिए, अंपा देखइ सोइ ।  
 अंपा जाणइ परु हणइ, करं निरारंबु वासु ॥  
 152. (क) पूर्व किये कम्मं निर्जरहि, नहु नहु उपजन देइ ।  
 अंपा नामु न रंगिए, केवलु न्यानु हवेइ ॥  
 (ख) केवलणाण हवेइ  
 153. (क) देउ वजावहि दुंदुहि, थुणइ जु बंभ मुरारी ।  
 इंदु फण्णिदु वि चक्कवइ, तेतिमु उरगहि वारु ॥  
 (ख) देव वजावहि दुंदहिं, थुणहिं जि वंभु मुरारि ।  
 इंद फण्णिद वि चक्कवइ, तिणि वि लागइ पायाई ॥33॥  
 154. (क) केवलन्यानु वि उपजइ, सदगुर के उपदेस ।  
 जगु संजकु चरु सु मिने, रहए सहज सुभाई ॥  
 (ख) केवलणाण वि उपज्जई, सदगुरु वचन पसाउ ।  
 जग सु चराचर सो मुणी, रहइ जु सहजु सुभाई ॥  
 155. (क) प्रति में यह छन्द यहाँ न होकर छंद 37 के बाद है ।  
 156. (ख) तुठा पावयई  
 157. (ख) मुगति  
 158. (ख) निरु तू भाइय, जब लगु हियडइ सासु ॥35॥  
 159. (क) सिघ सह  
 160. (क) रयणिहिनतय  
 161. (क) दरसावइ अण्णु  
 162. (क) पावहि  
 163. (ख) कुगुरुह  
 164. (क) पुजि  
 165. (ख) सिर  
 166. (क) घूणहि  
 167. (क) तिरथु काइ भमेइ (ख) काइ भमेहु  
 168. (क) देव सचेयणु सत्यगुरु, जो दरिसावइ भेउ  
 (ख) देह सचेयणु संघ गुरु, जो दरिसावहि भेव  
 169. (क) सुनें सुनावइ अनुभमइ, सौ नरु स्यौपुरि जाई ।  
 कम्मं हणो भव निर्दलौ, गोपाल हिए समाइ ॥

- (ख) पढइ पाढावइ अणचरइ, सो एरु सिवपुरि जाई ।  
कम्महरण भव णिदण्णि, भवियण हियइ समाइ ॥38॥
170. (क) सुणतहं आनंदु उल्लसइ, मस्तिक न्यानतिलाकु ।  
मुकटुमणि सिर सोहइ, साहु गोपालहं जोगु ॥
- (ख) सुणतहं आणंद उल्लसई, मस्तकि णाणतिलकु ।  
मुकटुमणि सिर सोहवई, साहु गुपाला हु जोगु ॥39॥
171. (क) प्रति में यह छंद 30 के पश्चात् है
172. (ख) सोई
173. (ख) परहराई
174. (ख) करई
175. (ख) होई
176. (क) सुनतह हिये करमरे, मस्तिक उपजे सूर ।  
अणखु बढे बहु हियरे, मिथ्यादिष्टि जोगु ॥
- (ख) सुणतह हियडइ कलमलई, मस्तकि उपज्जइ सूल ।  
अणखु बढावइ बहु हियइ, मिच्छादिट्ठी जोगु ॥41॥
177. (क) हिंडोला छंदु गाइए, अनंदातिलुकु जु नाऊ ।  
महानंदि देउ यौ भणै, इवि ही स्यौपुरि जाइ ॥
- (ख) हिंदोला छंदि गाइयइ, आणंदितिलकु जि णाउ ।  
महाणंदि दक्खा लियउ, अरु हउ सिवपुरि जाई ॥42॥
178. (क) वलि किजौ गुरु आपणै फेले मनसदेहु ।  
विन तेलहि विनु वातियहि, जिन दरिसो ये भेऊ ॥  
वलि काजउ गुरु आपणइ, फेडी मनह भरांति ।  
विणु तेलहिं विणु वाटियाहि, जिण दरिसावउ भेउ ॥43॥
179. (क) सदगुरुवाणी जाउ छौ, भणै महानदि देउ ।  
स्यौपुरि जाण्यै जाणिए, करइ चिदानंदि सेव ॥
- (ख) प्रति में केवल इतना ही छन्द है -  
सदगुरु चारण जउ हउ, भणइ महा आणंदि ।
180. (क) इति अनंदातिलकु समाप्तं ॥छ॥

नोट :- 'क' और 'ख' प्रतियों में 'आणंदा रे' अथवा 'अणंदारे' ये शब्द तीसरे तथा चौथे पद के मध्य हैं और केवल चार ही पद हैं । उनमें चौथे पद की 'आणंदा रे' यह लिखकर पुनरावृत्ति नहीं की गई है ।



## जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

राजस्थान के पूर्वी अंचल में सड़क मार्ग से जयपुर व आगरा से 175 तथा भारत की राजधानी दिल्ली से 300 कि. मी. की दूरी पर जिला सवाई माधोपुर तहसील हिण्डौन (राजस्थान) में गम्भीर नदी के सुरम्य तट पर श्रीमहावीरजी का पवित्र तीर्थ अवस्थित है। रेल-मार्ग से दिल्ली-बम्बई मुख्य रेल-लाइन पर भरतपुर व गंगापुर के मध्य "श्रीमहावीरजी" रेलवे स्टेशन से करीब 6 कि. मी. मोटर/बस के द्वारा इस तीर्थक्षेत्र पर पहुंचा जा सकता है।

इस देश में अनेक मंदिर व मूर्तियाँ हैं परन्तु उनमें कुछ ही मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनकी प्राणप्रतिष्ठा अभी तक जीवन्त है अथवा वे चामत्कारिक हैं। ऐसी चामत्कारिक प्रतिमाओं में एक प्रतिमा श्रीमहावीरजी दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पर विराजमान है।

लाल पाषाण तथा संगमरमर से निर्मित कलात्मक भव्य जिनालय में विराजमान ताम्रवर्ण की भगवान् महावीर की यह परम दिगम्बर पद्मासन प्रतिमा लगभग 400 वर्ष पूर्व चामत्कारिक ढंग से भूगर्भ से प्रकट हुई थी जिसके निर्निमेष दर्शन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती। यही कारण है कि उक्त प्रतिमा के दर्शन हेतु जैन व जैनेतर सभी वर्गों और सम्प्रदायों के भक्तगण बिना किसी भेदभाव के खिंचे चले आते हैं। जैनधर्म का सर्वोदयी स्वरूप सच्चे अर्थों में यहाँ प्रतिभासित होता है।

इस पावन तीर्थ पर यात्रियों को आवास, बिजली, पानी आदि सभी प्रकार की आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध हैं। यहाँ सदैव दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है। जंगल जैसी नीरवता तथा नगरों जैसी चहल-पहल दोनों विरोधी छोर यहाँ आकर मिलते हैं।

इस दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने अपना कार्यक्षेत्र केवल मंदिर की व्यवस्था तथा दर्शनार्थियों की सुख-सुविधा तक ही सीमित नहीं रखा अपितु, पूरे ग्राम के नागरिकों के लिए पानी, बिजली, सड़कें, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए वह पूर्णतया सचेष्ट है। यह कमेटी होनहार किन्तु आर्थिक अभाव

से ग्रस्त छात्रों को शिक्षा हेतु छात्रवृत्ति तथा विकलांग, वृद्ध व विपन्न विषवाओं के लिए आर्थिक सहायता की भी व्यवस्था करती है। एलोपैथिक डिस्पेंसरी के साथ आयुर्वेदिक औषधालय तो वर्षों से तीर्थस्थल पर सेवारत है ही, योग व प्राकृतिक चिकित्सालय की योजना भी क्रियान्वित की जा रही है। मंदिर और जैन पुरातत्व के स्थानों को सुरक्षित रखने तथा जैन वाङ्मय के प्रचार-प्रसार व अनुसंधान का कार्य भी इस समिति की गतिविधियों के अंग हैं।

### जैनविद्या संस्थान

जैन तीर्थ पूजा-भक्ति के साथ-साथ जैन संस्कृति की रक्षा तथा उसके प्रचार-प्रसार के महान् केन्द्र रहे हैं। जब कालगत परिस्थितियों के कारण दिगम्बर साधुओं के विहार आदि में बाधाएँ आईं तब भट्टारक संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। भट्टारकों ने विशेषतया जैन तीर्थों को संस्कृति के प्रसार का केन्द्र बनाया और सारे भारत में विहार कर अपनी विद्वत्ता तथा साधना के बल पर संस्कृति का संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार किया। इसके लिए उन्होंने प्राचीन ग्रंथों की हजारों लाखों प्रतिलिपियाँ करवाईं, नवीन ग्रंथों का निर्माण किया और बड़े-बड़े ग्रंथागारों की स्थापना की। श्रीमहावीरजी तीर्थ के पास भी एक ग्रंथ भण्डार है।

जो थोड़ा-बहुत जैन साहित्य विश्व के चिन्तकों और मनीषियों के सम्मुख अब तक रखा जा सका है उसे देखकर आज एक स्वर से यह स्वीकारा जाने लगा है कि विश्व को त्राण दिलाने के उपाय हैं— भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धांत। आज विश्व को महावीर के सिद्धांतों की जितनी अधिक आवश्यकता है उतनी शायद अतीत में कभी नहीं रही। अतः हमारा कर्तव्य है कि युग की इस माँग को पूरा करें।

इसी दृष्टि से क्षेत्र की प्रबंधकारिणी कमेटी ने आज से लगभग 37 वर्ष पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् एवं साहित्यसेवी स्व. पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ की प्रेरणा एवं क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री स्व. श्री रामचन्द्र खिन्दूका के अथक प्रयासों से आमेर शास्त्र भण्डार को जयपुर स्थानान्तरित कर एक साहित्य शोध विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग ने राजस्थान के अनेक मंदिरों के जैन शास्त्र भण्डारों में वर्षों से बंद ग्रंथों की पाँच वृहदाकार सूचियाँ प्रकाशित की जिनसे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी की हजारों अज्ञात जैन रचनाएँ प्रकाश में आईं। साहित्य शोध विभाग द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित किये गये। डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं. अनुपचन्द न्यायतीर्थ का प्रकाशन कार्य में पर्याप्त योगदान रहा।

इस कार्य को अधिक व्यापक रूप प्रदान करने की दृष्टि से क्षेत्र की प्रबंधकारिणी कमेटी ने साहित्य शोध विभाग को वृहदाकार देकर क्षेत्र पर ही जैनविद्या संस्थान (Institute of Jainology) की स्थापना की है। इस संस्थान के उद्देश्य हैं—

1. प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, कन्नड़, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं के अप्रकाशित साहित्य को आधुनिक शैली में सम्पादित कर प्रकाशित करना।



2. चारों अनुयोगों के मूल ग्रंथ और उनके अनुवाद हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित करना ।
3. जैन पुराण, दर्शन, न्याय आदि के संक्षिप्त जनोपयोगी संस्करण तैयार करना ।
4. जैन दर्शन, आचार, इतिहास, कला, साहित्य आदि पर मौलिक पुस्तकें तैयार करना ।
5. देश में जैन भण्डारों की पाण्डुलिपियों को व्यवस्थित कराना तथा उनकी सूचियाँ बनाना, उनके संग्रहण एवं संरक्षण की व्यवस्था करना ।
6. दुर्लभ पुस्तकों एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्म बनवा कर संस्थान में उपलब्ध कराना ।
7. देश-विदेश के विद्वानों को अभीष्ट पाण्डुलिपियों की फोटोस्टेट, जीरोक्स आदि प्रतियाँ उनकी आवश्यकतानुसार उपलब्ध कराना ।
8. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के जैन ग्रंथों के कोश तथा प्राकृत ग्रंथों की अनुक्रमणिका तैयार करना ।
9. जैन विषयों से सम्बन्धित शोध-प्रबन्धों को प्रकाशित करना और जैन विषयों पर शोध करनेवाले छात्रों को सुविधाएं प्राप्त कराना ।
10. जैन कला संग्रहालय की स्थापना करना ।
11. समय-समय पर जैनविद्या पर संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आयोजित करना व कराना ।
12. विदेशों में जैनविद्या के केन्द्रों को स्थापित कराना ।
13. विश्वविद्यालयों में जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था में आवश्यक योग देना ।
14. प्राचीन जैन कवियों के आध्यात्मिक तथा भक्तिपरक भजनों के रेकार्ड एवं टेप तैयार कराना ।
15. जैनधर्म सम्बन्धी भाषणों और चर्चाओं के टेप तैयार कराना ।
16. जैन तीर्थों की फिल्मों का संग्रहण एवं प्रदर्शन करना ।
17. आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से जैन संस्कृति के प्रसार की व्यवस्था कराना ।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संस्थान में निम्न सात विभागों की स्थापना की योजना बनाई गई है —

### (1) पुस्तकालय विभाग :

इसमें मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहीत किये जा रहे हैं । जो हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त न हो सकेंगे उनकी फोटोस्टेट प्रतियाँ कराई जावेंगी । इस विभाग में माइक्रोफिल्मिंग केन्द्र भी खोलने की योजना है ।

वर्तमान में इस विभाग में 13,000 के लगभग विभिन्न विषयों के मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध हैं ।

पाण्डुलिपि विभाग में हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या 3500 से भी अधिक है जिनमें 700 के लगभग गुटके हैं। उनमें पूजा, स्तोत्र, पद, विधान, चरित, रासा आदि विभिन्न भाषाओं की रचनाएं संगृहीत हैं जिनकी संख्या हजारों में है।

भण्डार में प्राचीनतम पाण्डुलिपि 10वीं शताब्दी ई० में होनेवाले अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित उत्तरपुराण की है जिसकी प्रतिलिपि मुहम्मदशाह तुगलक के राज्यकाल में योगिनीपुर (दिल्ली) में विद्या और हेमराज ने वि० सं० 1391 में कराई थी।

प्राकृत भाषा का संस्कृत टीका सहित ग्रंथ 'क्रियाकलाप' संवत् 1399 में प्रतिलिपिकृत है।

नागरी लिपि में लिखे ग्रंथों के अतिरिक्त एक ग्रंथ बंगला, दो ग्रंथ कन्नड़ लिपि में तथा कुछ गुजराती भाषा की नागरी लिपि में लिखित रचनाएँ भी हैं। कुछ सचित्र प्रतियाँ भी हैं।

अभी सर्वेक्षण कार्य चालू है। विद्वान् इस कार्य को कर रहे हैं।

## (2) शोध विभाग :

इस विभाग में जैन पुराण, दर्शन, न्याय, इतिहास, कला आदि से सम्बन्धित विषयों पर शोध-कार्य एवं अन्य धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था है। प्राचीन ग्रंथों एवं पाण्डुलिपियों का सम्पादन कार्य भी चालू है। वर्तमान में विद्वान् जैनपुराण कोश की तैयारी कर रहे हैं। इस कार्य के लिए महापुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डवपुराण, पद्मपुराण एवं वर्द्धमानपुराण, इन पाँच पुराणों को लिया गया है। इनमें आई अवान्तर कथाओं को भी छाँटा गया है एवं सूक्तियों का भी चयन व हिन्दी अनुवाद किया जा रहा है। 'षट्खण्डागम कोश' की तैयारी का कार्य भी प्रगति पर है। अपभ्रंश के आद्य कवि स्वयंभू पर भी शोध-कार्य हो रहा है।

संस्थान द्वारा "जैनविद्या" नामक एक अर्द्ध-वार्षिक शोध-पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया है एवं प्रतिवर्ष संगोष्ठियों एवं व्याख्यानो का आयोजन किया जाता है। शोध के क्षेत्र में कार्य करने के इच्छुक व्यक्तियों को आवश्यक सुविधाएँ भी यह विभाग प्रदान करता है एवं जो व्यक्ति श्रीमहावीरजी में आकर शोध-कार्य करना चाहते हैं, उनके रहने तथा आतिथ्य की उचित व्यवस्था भी इस विभाग द्वारा की जाती है।

## (3) जनोपयोगी साहित्य निर्माण विभाग :

इस विभाग द्वारा बालकों और वयस्कों के लिए ऐसे रोचक साहित्य का निर्माण कराया जायगा जिससे उनमें धर्म और दर्शन के प्रति रुचि जागृत हो सके।

## (4) कला विभाग :

इस विभाग में स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला के ऐसे नमूनों का संग्रह होगा जो जैन संस्कृति के कलात्मक पक्ष को समझने में महत्त्वपूर्ण होगा।

**(5) अनुवाद विभाग :**

यह विभाग महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य समसामयिक भाषाओं में अनुवाद करावेगा। जैनधर्म और दर्शन के विषय में लोग अपनी भाषा में ज्ञान प्राप्त कर सकें—यह इन अनुवादों का प्रयोजन होगा।

**(6) प्रसारण एवं जनसम्पर्क विभाग :**

यह विभाग जैन संस्कृति से सम्बन्धित प्रसारणों की आधुनिक पद्धति से व्यवस्था करेगा।

**(7) मुद्रणालय विभाग :**

संस्थान का आधुनिकतम साधनों से सुसज्जित अपना मुद्रणालय होगा।

**पुरस्कार योजना :**

प्रतिवर्ष 5000/- रुपये का "महावीर पुरस्कार" ऐसे व्यक्ति को भेंट किया जाता है जिसने साहित्यिक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया हो।

इसके अतिरिक्त अन्य पुरस्कार प्रदान करने की आयोजना भी विचाराधीन है।

वर्तमान में यह संस्थान प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन के मानद निदेशन में कार्य कर रहा है।

इस सम्पूर्ण योजना के क्रियान्वयन के लिए क्षेत्र की प्रबंधकारिणी कमेटी ने जैनविद्या संस्थान समिति का निम्न प्रकार गठन किया है—

1. श्री मोहनलाल काला	जयपुर	अध्यक्ष
2. डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी	"	संयोजक
3. डॉ० राजमल कासलीवाल	"	सदस्य
4. श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका	"	"
5. श्री विजयचन्द्र जैन	"	"
6. श्री फूलचन्द्र जैन	"	"
7. श्री कपूरचंद पाटनी	"	"
8. डॉ० कमलचंद सोगानी	उदयपुर	"
9. प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन	जयपुर	पदेन सदस्य

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान की इस योजना को देश के अनेक विद्वानों ने सराहा है। यह संस्थान अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर सके, इसके लिए सबका सहयोग आवश्यक है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस संस्थान के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान में अपेक्षित योगदान उपलब्ध होगा।

## दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

(कार्यालय - महावीर भवन, एस. एम. एस. हाईवे, जयपुर)

प्रबन्धकारिणी कमेटी के वर्तमान सदस्य

श्री मोहनलाल काला	सभापति	श्री धीसीलाल चौधरी	सदस्य
श्री गैदीलाल साह	उपसभापति	श्री जयकुमार छाबड़ा	"
डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी	उपसभापति	श्री जमनादास जैन	"
श्री कपूरचंद पाटनी	मंत्री	श्री विजयचंद जैन	"
श्री बलभद्रकुमार जैन	सहा. मंत्री	श्री तेजकरण डंडिया	"
श्री राजकुमार काला	सहा. मंत्री	श्री मंवरलाल अजमेरा	"
डॉ. राजमल कासलीवाल	सदस्य	श्री फूलचंद जैन	"
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका	"	श्री पदमचंद तोतूका	"
श्री गुलाबचन्द कासलीवाल	"	श्री नरेशकुमार सेठी	"
श्री रूपचंद सौगानी	"	श्री फूलचंद छाबड़ा	"
श्री सुभद्रकुमार पाटनी	"	श्री ताराचंद्र जैन	"
श्री मोहनलाल सोनी	"	श्री सूरजमल जैन	"
श्री चिरंजीलाल काला	"	साहू श्रेयांसप्रसाद जैन	"
श्री रामचन्द्र कासलीवाल	"	अध्यक्ष, भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी	

पदेन सदस्य



## जैनविद्या का स्वयंभू विशेषांक : विद्वानों की दृष्टि में



- (1) श्री श्रीरंजनसूरिदेव, एम०ए० (प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी), स्वर्णपदकप्राप्त, पीएच०डी०, उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक "परिषद् पत्रिका" - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना -

"विशेषांक का प्रस्तवन, सामग्री और सज्जा की दृष्टि से अतिशय उत्तम है। यह विशेषांक अपभ्रंश साहित्य के अध्येताओं के लिए अवश्य ही सन्दर्भ ग्रन्थ की मूल्यवत्ता आयत्त करता है। मेरी हार्दिक बधाई लें।"

- (2) डॉ० गजानन नरसिंह साठे, एम०ए० (मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी) पीएच०डी०, बी०टी०, साहित्यरत्न, पूना -

"अंक बहुत ही सुन्दर है। लेखों में विविधता है। "स्वयंभूदेव" के साहित्य का अध्ययन करनेवालों को यह परम उपयुक्त सिद्ध होगा।"

- (3) डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रोफेसर-हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएं, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी -

"स्वयंभू का प्रारम्भिक हिन्दी के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व है। स्वयंभू-काव्य के विविध पक्षों पर आपने जो सामग्री जुटाई वह प्रशंसनीय है। सभी लेख पठनीय हैं। साज-सज्जा आकर्षक है। ऐसे अभिनन्दनीय प्रयास के लिए जैनविद्या संस्थान को मंगलकामनाएं।"

- (4) श्री यशपाल जैन, मंत्री - सस्ता साहित्य मण्डल एवं सम्पादक - "जीवन साहित्य", नई दिल्ली -

"विशेषांक बहुत सुन्दर निकला है। उसमें आपने बड़ी ही ज्ञानवर्धक, खोजपूर्ण तथा उपयोगी सामग्री का समावेश किया है। ऐसे लोकोपयोगी विशेषांक के लिए हार्दिक बधाई।"

- (5) डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा "अरुण", एम०ए०, पीएच०डी०, रीडर तथा अध्यक्ष -  
हिन्दी विभाग, वी०एस०एम० पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, रुड़की -

"निःसन्देह पत्रिका का स्तर एवं मुद्रण अत्यन्त सराहनीय है। शोध निबंधों का चयन आपके सम्पादन कौशल का परिचायक है। शोध-पत्रिकाओं में "जैनविद्या" का अपना ही स्थान बनेगा, यह विश्वास मुझे है।"

- (6) पं० जगन्मोहनलालजी जैन शास्त्री, कुण्डलपुर (दमोह) -

"श्री महावीर क्षेत्र के सुयोग्य कार्यकर्ताओं ने जैनविद्या संस्थान की स्थापना कर बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित किया है। "जैनविद्या" का स्वयंभू अंक देखा। सभी लेख बहुत उच्चकोटि के व शोधपूर्ण हैं। सभी लेखकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्वयंभू पर प्रकाश डाला है। उन लेखों से ही कविवर स्वयंभू और उनके ग्रंथ पउमचरिउ पर उत्तम प्रकाश पड़ता है तथा उनकी महत्ता अंकित होती है।.....शोध पत्रिकाएँ और भी देखी हैं पर उनमें अलग-अलग विषय को लेकर अलग-अलग ग्रन्थ व ग्रन्थकार को लेकर लेखक अपना लेख लिखता है और उनका उसमें संग्रह रहता है। पर इसमें विभिन्न विद्वान् लेखकों ने एक ही ग्रंथ पर एक ग्रंथकार के ऊपर विभिन्न दृष्टिकोणों से उसकी महत्ता प्रदर्शित की है। किसी का लेख किसी अन्य लेख की पुनरुक्तिरूप नहीं है यह देख कर आश्चर्य होता है। मैं आपको, आपके सम्पादक मण्डल को तथा सभी विद्वान् लेखकों को इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ।"

- (7) डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, अध्यक्ष - जैनदर्शन विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय,  
वाराणसी -

"जैनविद्या" का स्वयंभू विशेषांक देख कर मन हर्षित हो उठा। ऐसे नये संस्थान से इतने उच्चपरम्परा और गौरवपूर्ण विशेषांक की हमें यही अपेक्षा थी। महाकवि स्वयंभू के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के सर्वांगीण अध्ययन के लिए यह विशेषांक परिपूर्ण है। आशा है इसी प्रकार सभी जैन आचार्यों और महाकवियों के अध्ययन की परम्परा चालू रख कर जैनविद्या तथा प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत आदि भाषाओं के साहित्य के मूल्यांकन का सम्पूर्ण विद्वज्जगत् को अवसर प्रदान करते रहेंगे। आप सभी को इस दिशा में अभिरुचि और कार्यान्वयन में श्रम के लिए हमारी बधाइयाँ।"

- (8) डॉ० राजेन्द्रप्रकाश भटनागर, प्राध्यापक - म० मो० मा० राजकीय आयुर्वेद  
महाविद्यालय, उदयपुर -

"पत्रिका की छपाई, सफाई और उत्तम कागज पर मुद्रण देख कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। स्वयंभू विशेषांक में अपभ्रंश के आदि महाकवि स्वयंभू के सम्बन्ध में विविध आयामों से शोध रचनाएं संकलित कर आपने एक उत्तम कार्य का श्रीगणेश किया है। इसी अनुक्रम में विविध वृत्तिकारों और विद्या की विधाओं पर आप द्वारा समय-समय पर शोधपरक सामग्री के रूप में "जैनविद्या" के आगामी अंक प्रकाशित कर अमूल्य साहित्य का संग्रह हो सकेगा।"

(9) श्री रामसिंह तोमर, शांतिनिकेतन -

“जैनविद्या” का पहला अंक प्रत्येक दृष्टि से आकर्षक है। मैं स्वयं विश्वभारती (त्रैमासिक) पत्रिका का सम्पादक हूँ। कोई भी अच्छी पत्रिका दृष्टि में आती है तो प्रसन्नता होती है। बिहारी का दोहा है - “ज्यों बडरी अँखिया निरखी अँखिनि को सुख होत”- किसी की बड़ी अँखिं देखती हैं तो अँखिं को बड़ा सुख होता। एक सम्पादक को अच्छी पत्रिका देखकर सुख मिलता है। आपकी पत्रिका उन्नति करे, चिरायु हो।

(10) महन्त श्री बजरंगदास स्वामी, प्राचार्य - बादू आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर -

“अपभ्रंश भाषा के प्रख्यात महाकवि स्वयंभू से सम्बद्ध सम्पूर्ण जानकारी एक कलेवर में प्राप्त कर हादिक प्रसन्नता हुई। पत्रिका के लेख महाकवि के व्यक्तित्व, काव्यसौन्दर्य एवं तत्कालीन देश आदि विषयों का शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। अतएव यह विशेषांक शोधार्थियों एवं सामान्य अध्येताओं के लिए परमोपयोगी एवं संग्रहणीय है।”

(11) श्री उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी -

“इस विशेषांक में एक ही स्थान पर स्वयंभू का व्यक्तित्व, विद्वत्ता, काव्यकला आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उच्चकोटि के 16 विद्वानों के लेख इस पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं जो सभी पठनीय हैं। यथार्थ में इस विशेषांक को पढ़ने से स्वयंभू के विषय में सम्पूर्ण जानकारी एक ही स्थान पर मिल जाती है। इस विशेषांक का बाह्यरूप जितना आकर्षक है अन्तरंग उससे भी अधिक भव्य एवं मनोहर है। अतएव यह विशेषांक पठनीय होने के साथ ही संग्रहणीय भी है।”

(12) डॉ० एम० डी० बसन्तराज, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष - जैनोलॉजी एवं प्राकृत, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर -

“The magazine as a Svayambhū Viśeśāṅka is well designed and the articles in it on Svayambhū are very Valuable.

(13) दैनिक हिन्दुस्तान, साप्ताहिक संस्करण, रविवार, 24 जून, '84 -

“विशेषांक में स्वयंभू के व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व के संबंध में शोधपरक जानकारी जुटाई गई है जो स्वतन्त्र तथा तुलनात्मक दोनों प्रकार के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।”

(14) पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी -

“जैनविद्या” का प्रथम अंक मिला। पढ़कर तबियत प्रसन्न हो गई। कागज, छपाई बहुत ही उच्चकोटि की है, प्रमेय भी उच्चकोटि का है। धन्यवाद !”

(15) डॉ० पवनकुमार जैन, भाषाविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर -

“संयोजित सामग्री के लिए सम्पादक मण्डल बधाई का पात्र है। स्वयंभू कौन थे, उनका साहित्य जगत् में क्या अभूतपूर्व योगदान रहा है? इत्यादि प्रश्नों के संबंध में

स्वयंभू विशेषांक के माध्यम से पाठकों को अपने चिन्तन करने के लिए प्रेरित किया है। पडमचरिउ के शोधपूर्ण लेखों से अनुप्राणित यह विशेषांक पठनीय एवं संग्रहणीय है। अनुसंधान करनेवालों के लिए स्वयंभू विशेषांक में बहुत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।”

(16) पं० बंशीधरजी शास्त्री, बीना -

“जैनविद्या” का यह अंक स्वयंभूदेव के विषय में महत्त्वपूर्ण विस्तृत सामग्री से ओतप्रोत है।”

(17) डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे, एम०ए० (हिन्दी, इतिहास) पीएच० डी०, साहित्यरत्न, साहित्यमार्तण्ड, साहित्यमणि, साहित्यमनीषी, रीडर - हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय -

“अर्द्धवार्षिक शोधपत्रिका “जैनविद्या” ने अपने प्रवेशांक के द्वारा ही हिन्दी वाङ्मय में ऐतिहासिक तथा अविस्मरणीय स्थल निर्मित कर लिया है। उसका स्वयंभू विशेषांक हिन्दी तथा प्राच्यविद्या की अमूल्य थाती है जिसका बौद्धिक, अकादमिक, शैक्षिक तथा शोधजगत् में सर्वत्र हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन होना चाहिये।

प्रस्तुत विशेषांक एक प्रकार से महाकवि स्वयंभू पर एक संदर्भ ग्रंथ तथा ज्ञानकोष का कार्य करता है। स्वयंभू अपभ्रंश के वाल्मीकि थे। उनके व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व के सभी पक्षों तथा तत्त्वों का इसमें सुरुचिपूर्ण ढंग से समाहार हुआ है।”

(18) डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, अध्यक्ष - अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्, सागर -

“जैनविद्या संस्थान का ध्यान अपभ्रंश भाषा के साहित्य प्रकाशन की ओर गया, यह अच्छी बात है। यह संस्थान अन्य प्रकाशनों का मोह छोड़ कर अपभ्रंश साहित्य प्रकाशन में ही अपनी पूर्ण शक्ति लगा दे तो इस साहित्य का उद्धार सरलता से हो सकता है।”

(19) वीरवाणी - जयपुर, पाक्षिक, वर्ष 36, अंक 19-20, दि० 18.7.84, पृष्ठ 431 -

“जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी की ओर से प्रकाशित एक महाकवि की कृतियों पर विश्लेषणात्मक विभिन्न अधिकारी लेखकों द्वारा सर्वांग विवेचन एक अनूठा और सराहनीय प्रयास है।”

(20) डॉ० शशिमूर्धण द्विवेदी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत, शास० म० वि०, आलमपुरा (भिण्ड) -

“निश्चितरूप से यह एक ऐसी मौलिक पत्रिका है जिसमें न केवल जैनधर्म अपितु सार्वभौमिक मानवता के लिए सुखद और प्रेरणास्पद दिव्य सन्देश है।”



(21) पं० विष्णुकान्त शुक्ल, अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, जे० बी० जैन कॉलेज, सहारनपुर -

“स्वयंभू अपभ्रंश भाषा के अंगुलिगणनागणनीय कवियों में होते हुए भी अनेक साहित्यप्रेमियों एवं जिज्ञासुओं के लिये अपरिचितप्रायः हैं। स्वयंभू कवि पर शोधपूर्ण सामग्री का संयोजन एवं संकलन कर स्वयंभू विशेषांक को प्रकाशित कर संस्थान ने एक प्रशंसनीय शुभारम्भ किया है।

विशेषांक में स्वयंभू से संबंधित प्रत्येक विषय पर अधिकारी विद्वानों ने लेख लिखे हैं। इन सभी से कवि के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्वपरक परिचय से पाठक सहज ही परिचित हो जाता है। सभी लेख/निबंध स्वयंभू में पूर्ण हैं। विशेषांक को स्वयंभू पर लघु विश्वकोष कहा जाय तो कुछ असंगत नहीं होगा।”

(22) डॉ० दि० बा० पेंडारकर, आचार्य एवं अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, शास० स्नातकोत्तर म० वि०, गुना (म० प्र०) -

“महाकवि के मूल्यवान् प्रदेश को उसकी समस्त गुणवत्ता के साथ विशेषांक प्रस्तुत करता है। विशेषतः महाकवि की पउमचरिउ कृति का विविध पक्षों को उद्घाटित करनेवाला आकलन एवं मूल्यांकन स्तरीय विश्लेषणात्मक एवं मौलिकता से युक्त है। स्वयंभू के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का संतुलित परन्तु विशद वर्णन एवं विश्लेषण इस विशेषांक की निजी विशेषता है।”

(23) श्री सुबोधकुमार जैन, सचिव - श्री देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान, श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा -

“यह पहला अंक आपने बहुत अच्छा निकाला है। विशेषांकरूप में निकाल कर और भी अच्छा किया है। हमारी सलाह है कि आप इसी विशेषता को कायम रखें। इसका अपना अलग ही महत्त्व रहेगा।”

(24) श्री सत्यधरकुमारजी सेठी, उज्जैन -

“जैन समाज में यह प्रथम प्रयास है जबकि अपभ्रंश भाषा के महान् विद्वान् एवं महाकवि स्वयंभू द्वारा रचित “पउमचरिउ” ग्रन्थ पर विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया है।

महावीर क्षेत्र कमेटी का यह प्रयास वास्तव में स्तुत्य है।”

(25) डॉ० हरीन्द्रभूषण, निदेशक - अनेकान्त शोधपीठ तथा मा० ज० भीसीकर, संचालक - बाहुबली विद्यापीठ, बाहुबली (कोल्हापुर) -

“स्वयंभूदेव और उनके साहित्य के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की गई है उससे पत्रिका का रूप स्वयंभूदेव पर लिखे गये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा हो गया है।

वस्तुतः जैनविद्या विशेषांक के सभी लेख प्रायः संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे महाकवि के व्यक्तित्व, कर्तृत्व, काव्य-सौन्दर्य, पात्रों के चरित्र एवं तत्कालीन साहित्यकारों के जीवन पर प्रकाश पड़ता है।”

(26) डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ, ग्वालियर -

“पत्रिका में प्रकाशित विविध समीक्षात्मक निबंधों के माध्यम से अपभ्रंश साहित्य के आदि महाकवि स्वयंभू का व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं प्रदेश असाधारण सुन्दरता से उद्भासित हो उठा है। मुझे लगता है कि इस प्रकार की पत्रिका समाजोत्थान की दिशा में प्रचुर योगदान कर सकती है और सुपठित साहित्यिक समाज के लिए भी पर्याप्त ज्ञानवर्धक है क्योंकि सामान्यतः पढ़े-लिखे लोग भी अपभ्रंश साहित्य और उसके महान् सर्जकों के प्रदेश से परिचित नहीं हैं।

निबंधों का संचयन, संकलन अत्यन्त विवेकपूर्ण है तथा सभी निबंध विषय के उत्कृष्ट विद्वानों, प्रेमियों और निष्ठावान् साहित्यविदों के गम्भीर अध्ययन से प्रेरित और प्रसृत हैं। ऐसी असाधारणरूप से उत्कृष्ट पत्रिका के प्रकाशन के लिए बधाई।”

(27) पं० अमृतलालजी शास्त्री, साहित्याचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू -

“प्रस्तुत विशेषांक से जो अनेक विद्वानों के पठनीय लेखों से अलंकृत है, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के अधिकारी विद्वान् महाकवि स्वयंभू तथा उसके साहित्य का सर्वांगीण परिचय प्राप्त हो जाता है।

विशेषांक का कागज, छपाई, सफाई, प्रूफसंशोधन तथा गैटअप आदि सभी नयनाभिराम हैं। यदि अगले अंक भी इसी ढंग से निकलते रहे तो इस समय प्रकाशित होनेवाली दिगम्बर जैन समाज की शोध-पत्रिकाओं में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त होगा।

(28) श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का प्रमुख पत्र “अमरा”, वर्ष 35 अंक 10, अगस्त 1984, पृष्ठ 47 -

“स्वयंभू विशेषांक” निश्चय ही एक स्तरीय प्रकाशन है। किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का बहुविध विश्लेषण शोधार्थियों की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। स्वयंभू का स्थान अपभ्रंश साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर जैनविद्या एवं अपभ्रंश भाषा के विद्वानों द्वारा लिखे गये ये विविध लेख कवि के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इससे शोध छात्रों एवं विद्वानों दोनों को ही लाभ होगा। अपेक्षा यह है कि इस प्रकार एक-एक साहित्यकार को लेकर यदि लिखा जाता रहा तो जैनविद्या की महती सेवा होगी। अंक संग्रहणीय एवं पठनीय है। गैटअप और साजसज्जा भी आकर्षक है।”

## साहित्य-समीक्षा

1. **श्रावकाचार** : रचनाकार - पण्डित टोडरमल । सम्पादन - पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री । प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी । पृष्ठ संख्या 92 । साइज-18"×22"/8 । मूल्य 4.00 रु० । प्रथम संस्करण ।

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन "श्रावकाचार" नाम से किया गया है जबकि पुस्तक के पृष्ठ 1, 8, 9, तीन स्थानों पर पुस्तक का नाम "ज्ञानानन्द-पूरित नरभरनिजरस-श्रावकाचार" स्वयं ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित है । ग्रन्थ दिगम्बर तेरापन्थ आम्नाय की मान्यताओं पर आधारित है ।

मुद्रित ग्रंथ की भाषा पं० टोडरमलजी की भाषा के अनुरूप नहीं है । टोडरमलजी के ग्रंथों की भाषा ढूँढारी है जबकि इस ग्रन्थ की भाषा हिन्दी के निकट है । सम्पादक अथवा प्रकाशक किसी ने भी पुस्तक में यह उल्लेख नहीं किया है कि मूलभाषा का अनुवाद अथवा हिन्दीकरण किया गया है । इसके अतिरिक्त ग्रंथ में हवाईजहाज (पृष्ठ 88) जैसे आधुनिक उपकरण का भी उल्लेख है जो पं० टोडरमलजी के समय में प्रचलित नहीं था । इन सब कारणों से ग्रन्थ के टोडरमलजी कृत होने में सन्देह को तो स्थान है ही ।

2. **ज्ञानसार** : रचनाकार - श्री पद्मसिंह मुनि । अनुवादक-सम्पादक - पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री । प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी । पृ० सं० 15 । प्रथम संस्करण । साइज - 18"×22"/8 । मूल्य 2.50 रु० ।

प्रस्तुत कृति में ध्यान के भेद, फल, ध्यान के योग्य स्थान आदि का वर्णन है । विषय सुन्दर, संक्षिप्त व सारगर्भित है । ध्यानविषयक जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक संग्रहणीय एवं मननीय है ।

3. **जैन तत्त्वज्ञान भीमांसा** : (रचयिता) - डॉ० दरबारीलाल कोठिया । प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी । प्रथम संस्करण । पृष्ठ संख्या 374 । साइज 20"×30"/8 । मूल्य 50.00 रु० ।

प्रस्तुत कृति लेखक द्वारा समय-समय पर लिखे गये लगभग 60 निबन्धों का संकलन है । धर्म, दर्शन, न्याय, इतिहास, साहित्य आदि विविध विषयों के अध्ययन हेतु सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में बहुत उपयोगी है । पुस्तक पठनीय एवं पुस्तकालयों तथा मन्दिरों में संग्रहणीय है ।

4. **समाधिभरणोत्साह-बीपक** : रचनाकार - आ० सकलकीर्ति । अनुवादक - पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री । सम्पादन - डॉ० दरबारीलाल कोठिया । प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी । पृष्ठ संख्या 90 । द्वितीय संस्करण । साइज 18"×22"/8 । मूल्य 6.00 रु० ।

मूलग्रंथ संस्कृत-पद्य-निबद्ध है। साथ में हिन्दी अर्थ व भावार्थ भी है। ग्रन्थ में पंडित सदासुखजी, दानतरायजी, सूरचन्दजी कृत समाधिमरण पाठ और भावना भी दे दी गई है जो मूलग्रंथ के विषय से सम्बद्ध होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि ही करती है। पुस्तक मानव को मृत्यु की वास्तविकता का परिचय करा उससे भयमुक्त हो मृत्यु समय समाधि धारण कर उसे महोत्सव में परिवर्तित करने की प्रेरणा देती है।

5. अनित्य भावना : अनुवादक - स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार। प्रकाशक - शान्तादेवी चैरीटेबल ट्रस्ट, हल्दिया हाउस, जौहरी बाजार, जयपुर। पृ० सं० 42। द्वितीय संस्करण। साइज 20"×30"/16। निःशुल्क।

प्रस्तुत कृति आचार्य पद्मनन्दि की संस्कृत कृति "अनित्यपंचाशत्" का मूलसहित स्व० पं० जुगलकिशोर कृत हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी, संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों के लिए संस्कृत पद्यों का अंग्रेजी में रूपान्तरण भी है। कृति में संसार एवं उसकी भोगोपभोग सम्पदाओं की अनित्यता का सुन्दर चित्रण कर पाठक को राग से वैराग्य की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया गया है जिससे कि वह सांसारिक फन्दों से अपने को छुड़ा आत्म-कल्याण कर शिवसुख प्राप्त कर सके। प्रकाशन छपाई-सफाई आदि सभी दृष्टियों से उपादेय है।

## जैनविद्या (शोध-पत्रिका)

### सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का रहेगा।
4. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सेमी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
5. अन्य अध्ययन अनुसंधान में रत संस्थानों की गतिविधियों का भी परिचय प्रकाशित किया जा सकेगा।
6. समीक्षार्थ पुस्तकों की तीन-तीन प्रतियाँ आना आवश्यक है।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता :-

प्रधान सम्पादक  
जैनविद्या

B-20, गणेश मार्ग, बापूनगर  
जयपुर-302015

## इस अंक के सहयोगी रचनाकार

1. पं० अनूपचन्द्र जैन - जन्म-10 सितम्बर, 1922 । न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न । अनेकों पुस्तकों के लेखक, अनुवादक एवं सम्पादक । सामाजिक कार्यकर्ता । जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर में कार्यरत । इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त की रचनाओं की राजस्थान में लोकप्रियता । सम्पर्क सूत्र - 769, गोदीकों का रास्ता, जयपुर 302003 ।

2. डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति' - जन्म-20 दिसम्बर, 1953 । एम० ए० (स्वर्णपदक प्राप्त), पीएच० डी० । कवि, लेखक एवं समीक्षक । अनेक पुस्तकें प्रकाशित । रिसर्च एसोसिएट, हिन्दी विभाग - क. मु. भाषाविज्ञान एवं हिन्दी विद्यापीठ, आगरा । इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त - व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व । सम्पर्क सूत्र - मंगलकलश, 394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़ 202001 (उ० प्र०) ।

3. डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' - एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्य, डी०लिट्० । प्रोफेसर एवं निदेशक - जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय । संस्कृत, पालि, प्राकृत, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा जैन-बौद्ध दर्शन के विशेषज्ञ । अनेक पुस्तकों के लेखक, सम्पादक, रचनाओं के लिए पुरस्कृत । इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त का दार्शनिक ऊहापोह । सम्पर्क सूत्र - जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर - 302004 ।

4. डॉ० छोटेलाल शर्मा - जन्म-2 जनवरी, 1926 । एम० ए० (स्वर्णपदक प्राप्त) पीएच० डी०, डी० लिट्० । विविध विषयों पर अनेकों लेख प्रकाशित । अनेकों पुस्तकों के लेखक व सम्पादक । मानविकी एवं ललितकला संकायाचार्य, प्रोफेसर - भाषा विज्ञान, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली । इस अंक में - महापुराण के रामायण खण्ड की बिंब योजना । सम्पर्क सूत्र - 12, अरविन्द निवास, वनस्थली विश्वविद्यालय, वनस्थली (जि० टोंक) राजस्थान ।

5. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री - जन्म-18 फरवरी, 1933 । एम० ए०, साहित्यरत्न, पीएच० डी० । अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच । अनेक पुस्तकों एवं शोध-प्रबन्धों के लेखक, सम्पादक । इस अंक में - 1. अपभ्रंश के संवेदनशील महाकवि पुष्पदन्त, 2. आणंदा । सम्पर्क सूत्र - 243, शिक्षक निवास, नीमच, म० प्र० ।

6. डॉ० गदाधर सिंह - व्याख्याता - स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार) । इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त द्वारा रचित महापुराण की बिम्ब योजना । सम्पर्क सूत्र - हिन्दी विभाग, ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार) ।

7. डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल - जन्म-8 अगस्त, 1920 । एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री। अनेक पुस्तकों के लेखक व सम्पादक। निदेशक - महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर। इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त के आदिपुराण की एक सचित्र पांडुलिपि। सम्पर्क सूत्र - 867, अमृत कलश, बरकत कॉलोनी, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर - 302015 ।

8. डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया - एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०, एफ० आर० ए० एस० (लन्दन)। प्रोफेसर - हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएं, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी। भाषाविज्ञान तथा हिन्दी भाषा के विविध पक्षों पर अनुसन्धान एवं प्रकाशनों हेतु अनेकों बार पुरस्कृत। इस अंक में - पुष्पदन्त की भाषा। सम्पर्क सूत्र - भाषा विज्ञान विभाग, लालबहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी, मसूरी।

9. डॉ० प्रेमसागर जैन - जन्म-4 जनवरी, 1924। एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत), सिद्धान्तशास्त्री, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न, पीएच० डी०। अनेक रचनाओं हेतु पुरस्कृत। भूतपूर्व रीडर एवं अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत। इस अंक में - पुष्पदन्त और सूरदास (वात्सल्य)। सम्पर्क सूत्र - 5/559, पट्टी चौधरान, बड़ौत, उ० प्र०।

10. सुश्री प्रीति जैन - एम० ए०, आचार्य (जैनदर्शन)। सम्प्रति जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर में कार्यरत। इस अंक में - जैन रामकथाओं के परिप्रेक्ष्य में पुष्पदन्त की रामकथा। सम्पर्क सूत्र - 1130, महावीर पार्क रोड, जयपुर - 302003 ।

11. डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव - जन्म-3 फरवरी, 1927। एम० ए० (प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी), पाल्याचार्य, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, पुराणाचार्य, जैनदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पीएच० डी०। अनेकों पुस्तकों के लेखक, अनुवादक। सम्पादक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका आदि। उपनिदेशक - 'शोध'। इस अंक में - महापुराण की काव्यभाषा। सम्पर्क सूत्र - सम्पादक - 'परिषद् पत्रिका', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, आ० शिवपूजनसहाय मार्ग, पटना - 800004, बिहार।

12. पं० विष्णुकान्त शुक्ल - जन्म-29 अक्टूबर, 1942। एम० ए० (हिन्दी व संस्कृत) साहित्याचार्य, साहित्यरत्न। अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, जे० बी० जैन कॉलेज, सहारनपुर। अनेकों संस्कृत-हिन्दी पुस्तकों के लेखक। इस अंक में - शब्द प्रणाम (कविता)। सम्पर्क सूत्र - अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, जे० बी० जैन कॉलेज, सहारनपुर, उ० प्र०।

13. डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण' - एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्यरत्न। रीडर एवं अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, बी० एस० एम० स्नातकोत्तर कॉलेज, रुड़की (उ० प्र०) अनेकों रचनाओं के लेखक। इस अंक में - महाकवि पुष्पदन्त और उनका काव्य। सम्पर्क सूत्र - रीडर एवं अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, बी० एस० एम० स्नातकोत्तर कॉलेज, रुड़की - 247667 ।

# जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी

## महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)की प्र० कारिणी समिति के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए रु० 5,000/- (पाँच हजार) का महावीर पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना :-

### योजना के नियम --

1. जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि में लिखी गयी सर्जनात्मक कृति पर "महावीर पुरस्कार" दिया जावेगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहिले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जावेगा।
2. पुरस्कार के लिए विषय, भाषा, आकार एवं अवधि का निर्णय जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जावेगा।
3. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनों प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। यदि कृति प्रकाशित हो तो वह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिये।
4. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियाँ लेखक/प्रकाशक को संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होंगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
5. अप्रकाशित कृति की प्रतियाँ स्पष्ट टंकण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हों तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
6. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियों का मूल्यांकन दो या तीन विशिष्ट विद्वानों/निर्णायकों के द्वारा कराया जावेगा, जिनका मनोनयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। आवश्यक होने पर समिति अन्य विद्वानों की सम्मति भी ले सकती है। इन निर्णायकों/विद्वानों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन समिति द्वारा किया जावेगा। इस कृति को पुरस्कार के योग्य घोषित किया जावेगा।
7. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पाँच हजार रुपये का महावीर पुरस्कार प्रशस्तिपत्र के साथ प्रदान किया जावेगा। एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमें समानरूप से वितरित कर दी जावेगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जावेंगी।
9. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख साभार होना चाहिये।
10. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जावेगा।
11. उपरोक्त नियमों में आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी समिति को होगा।

डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी

संयोजक

जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी

## क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण साहित्य

- 1-5. राजस्थान के जैन शास्त्र मंडारों की ग्रंथ सूची - प्रथम एवं द्वितीय भाग - (अप्राप्य)  
तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भाग  
सम्पादक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ 170) रु०
6. जैन ग्रन्थ मंडारसं इन् राजस्थान - शोधप्रबन्ध (अंग्रेजी में)  
लेखक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 50) रु०
7. प्रशस्ति संग्रह - सम्पादक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 14) रु०
8. राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व  
लेखक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 20) रु०
9. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व  
लेखक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 20) रु०
10. जैन शोध और समीक्षा - लेखक - डॉ० प्रेमसागर जैन 20) रु०
11. जिणदत्त चरित - सम्पादक - डॉ० माताप्रसाद गुप्त  
एवं डॉ० कासलीवाल 12) रु०
12. प्रद्युम्नचरित - सम्पादक - पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ  
एवं डॉ० कासलीवाल 12) रु०
13. हिन्दी पद संग्रह - सम्पादक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 10) रु०
14. सर्वार्थसिद्धिसार - सम्पादक - पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ 10) रु०
15. चम्पा शतक - सम्पादक - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल 6) रु०
16. तामिल भाषा का जैन साहित्य - सम्पादक - श्री भंवरलाल पोल्याका 1) रु०
17. वचनदूतम् (पूर्वाद्ध एवं उत्तराद्ध) - लेखक - पं० मूलचन्द शास्त्री, प्रत्येक 10) रु०
18. तीर्थंकर वर्धमान महावीर - लेखक - पं० पदमचन्द शास्त्री 10) रु०
19. A Key to TRUE Happiness (अप्राप्य)
20. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ 50) रु०
21. बाहुबलि (खण्डकाव्य) - पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ 10) रु०
22. योगानुशीलन - लेखक - श्री कैलाशचन्द्र बाढ़दार, एम. ए., एलएल. बी. 75) रु०
23. चूनड़िया - मुनिश्री विनयचन्द्र, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका 1) रु०
24. आरांदा - श्री महानंददेव, अनु० डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री 5) रु०
25. वर्धमानचम्पू - पं० मूलचन्द्र शास्त्री प्रेस में

### पुस्तक प्राप्तिस्थान

मन्त्री कार्यालय

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी  
सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर-3 (राज०)

मैनेजर कार्यालय

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी  
श्रीमहावीरजी (जि० स० माधोपुर) राज०